॥ श्री ॥

हरिदास-संस्कृत-ग्रन्थमाला

२३८

॥ श्री ॥

काव्यप्रकाश-रहस्यम्

(संशोधित परिवर्धित संस्करणम्)



चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस,

वाराणसी-१

॥ श्रीः ॥

हरिदास–संस्कृत–ग्रन्थमाला
२३८

॥ श्रीः ॥

काव्यप्रकाश-रहस्यम्

(काव्यप्रकाश-प्रश्नोत्तरी)

रचयितारौ
साहित्यशास्त्राचार्य-—
श्री पं० सीताराम-जयरामजोशी, एम० ए०
काशीहिन्दूविश्वविद्यालयसंस्कृताध्यापकचरः
तथा
श्री पं० देवदत्तशास्त्री विद्यानिधिः
अम्बालास्थ दी० कृ० कि० स० ध० संस्कृतकालेजाध्यापकः

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी–१

सं० २०१६] [ई० १९५९

प्रकाशक:—
चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस
पोस्ट बाक्स नं० ८, वाराणसी
मूल्य १ रु० ५० नए पैसे

Chowkhamba Sanskrit Series Office,
P. O. Box 8, Varanasi.
1959
(प्रतिसंस्कृतं द्वितीयं संस्करणम्)

मुद्रक—
विद्याविलास प्रेस, वाराणसी–१

भूमिका

नत्वा जगद्गुरुं देवं विद्यां तां ब्रह्मणः कलाम्।
काव्यप्रकाशगुह्यस्य प्रस्तावः क्रियते मया॥

काव्यप्रकाशरहस्य-नामाऽयमेव ग्रन्थः पूर्वरूपं परिवृत्य किञ्चिन्नूतनवेषपरिधानेनाधुना जिज्ञासूनां विद्यार्थिनां तथा चान्यविचक्षणानां पुरतो वरीवर्त्ति। तत्रत्याः प्रथमपञ्चोल्लासा अतिसंक्षिप्ततया विहितत्वात् परीक्षार्थिनां छात्राणां ग्रन्थरहस्यबोधनायातीवापर्याप्ता इति मत्वा ग्रन्थप्रकाशकनिर्बन्धादेव परिस्फुटबोधक्षमा यथा भवेयुस्तथा कृत्वा तेऽत्र निनिवेशिताः। अपरञ्चात्रैव साहित्यिकीप्रथिता काऽपि स्पृहणीयपरम्पराऽपि प्रथितुं पारितेति जिज्ञासूनां तदतीव मुदमावहेदित्याशासे। सप्तमोल्लासादारभ्य ग्रन्थसमाप्तिपर्यन्तं तु श्रीदेवदत्तशास्त्रिकृता रचना पूर्ववदेव सन्निधापिता। ग्रन्थगौरवभयात् स भागोऽत्रास्पृष्टो वर्तते। ग्रन्थविस्तरेण तन्मूल्यमपि स्वाभाविकमेव वृद्धिमाप्नुयात्तथाभूते च सति निःस्वच्छात्राणां कृते ग्रन्थप्रापणकाठिन्यं जायेतेति प्रधानभाग एवात्र परिवर्तितस्तिष्ठति। आशासे चायं नूतनरूपेण जिज्ञासूनां मनोरञ्जने तथा ग्रन्थस्य सम्यग्बोधविधाने प्रभवेदिति।

ग्रन्थकृत्परिचयस्तस्य चरित्र-देश-कालवर्णनेन समासेनैवात्र विहितश्चेत्सोपि तेषामुपकारक्षमो सम्पद्येतेति मत्वाऽतिसंक्षेपेणैवात्र विधीयते। ग्रन्थस्यास्य प्रणेता राजानकपदलाञ्छनः श्रीमान् मम्मटभट्टः काश्मीरालङ्कार स्वनिवासेनेत्यत्र न वैमत्यं विदुषाम्। भीमसेनदीक्षितनिर्मितसुधासागराख्यया ग्रन्थस्यास्य टीकयेदमपि विदितं न 'अस्य पिता जैय्यटनामधेयः। व्याकरणमहाभाष्यप्रदीपकृत्कैय्यटस्तथा वेदभाष्यकृदुव्वटश्चास्यैव द्वौ कनीयासौ भ्रातरावास्ताम्। स स्वभ्रातृभ्यां सह वाराणस्यामध्ययनाध्यापनमकरोदिति। तथा च भीमसेनः—

श्रीमान् कैयट औवटो ह्यवरजो यच्छात्रतामागतो
भाष्याब्धिं निगमं यथाक्रममनुव्याख्याय सिद्धिं गतः॥

इति स्वटीकाया प्रस्तावश्लोकेषु कथयति । अत्र कैयटोपाध्य वैयाकरण सन् स्वप्रदीपप्रस्तावे आत्मान जैयटात्मजमभिधत्ते । उव्वट तु स्वीयवेदभाष्ये वज्रटात्मजमात्मानमभिव्यनक्ति । अतोऽस्य मम्म भ्रातृत्व विद्वद्भिर्विशङ्कित सदनिर्णीत वर्तते ।

सर्वशास्त्रविशारदोऽपि मम्मटाचार्योऽय प्रधानतया वैयाकरणाग्रणीरेव बभूव, यद्दृढीकरण काव्यप्रकाशस्थितनैकविधप्रमाणपरम्परया सुशकम् । न केवल भीमसेनेनैव किन्तु तत्पूर्वैरपि टीकाकृद्भिरानन्ददेवनाथतर्कपञ्चाननप्रभृतिभिरय मम्मटभट्टो वाग्देव्या अवतारत्वेन वर्णित ।

उव्वटोक्तमन्त्रभाष्यप्रस्तावगतश्लोकेन ('भोजे पृथ्वीं प्रशासति' इत्युक्तत्वात्) मम्मटस्य भोजराजसमकालिकत्वमपि ज्ञापित भवति । अय धारेश्वरो भोजराज खृष्टाब्दीय १०१८-१०५५ वर्षपर्यन्त महीं शशासेति शिलालेखस्थितानेकप्रमाणोपन्यासद्वाराऽऽधुनिकैरैतिहासिकै निश्चयचम् । काव्यप्रकाशेऽपि मम्मटभट्टेनैवोदात्तालङ्कारोदाहरणावसरे 'यद्विद्वद्भवनेषु भोजनृपतेस्तत्त्यागलीलायितम्' इति भोजनृपतेर्वर्णन' कृत्वा तत्समकालिकत्व प्रकटीकृतम् ।

यदि भोजनृपते समकालिकत्वमस्य मम्मटाचार्यस्य न स्वीक्रियेत तर्हि तस्मादर्वाचीनत्व त्ववश्यमेवाङ्गीकरणीयम् । एवमय काव्यप्रकाशस्य निर्माता खृष्टाब्दीयैकादशशतकस्योत्तरार्धात् (ई० १०५०) प्राचीनो न । खृष्टाब्दीयद्वादशशतकस्य पूर्वार्धे (ई० ११४०) वर्तमानराजानकरुय्यक वर्येण काव्यप्रकाशस्य टीका सङ्केतनामिका विरचितेति, साप्यधुना पुण्यपत्तने भाण्डारकरसशोधनमहालये उपलभ्यते इति द्वादशशतकारम्भात्पूर्वमेव काव्यप्रकाशस्य प्रचारोऽभवदित्यवगन्तव्यम् । काव्यप्रकाशस्यापरा टीका सकेतनामिका गुर्जरदेशस्थ माणिक्यचन्द्रसूरिणा विरचिताऽधुना सम्मुद्रय प्रकाशितोपलभ्यते । अतो द्वादशशतकस्यारम्भादेव काव्यप्रकाशस्य पठनपाठनप्रणाली भारतवर्षे प्रचलिताऽऽसीदित्यनुमेयम् । एव मम्मटभट्टेनाय काव्यप्रकाशग्रन्थ खृष्टाब्दीयैकादशशतकस्योत्तरार्धभागे (ई० १०५०-११००) कदाचिद्विनिर्मित इति जिज्ञासुभि

अलङ्कारनये काव्यप्रकाशस्य तदेव स्थानं यद् व्याकरणे महाभाष्यस्य वेदान्ते वा शारीरकशाङ्करभाष्यस्य दृश्यते अतोऽस्य नाम आकर इति सूपपन्नम्। अस्यापि ग्रन्थस्यालङ्कारग्रन्थान्तराणामिव त्रय एकाशा सन्ति 'कारिकावृत्तिरुदाहरणं चेति। तत्र द्वाचत्वारिंशदधिकैकशत-सङ्ख्याका कारिका सूत्रवद्गूढसन्दर्भा वर्त्तन्ते। वृत्तिरपि गद्यात्मिका मिताक्षरा सारगर्भा दुरूहा अत एव परिणाययितुं दुःशका वर्तते। ग्रन्थोऽयं मम्मटभट्टवर्येण कथमपि समाप्तिं न नीतः परिकरालङ्कारावधिरेव विरचितः। शेषस्तु तच्छिष्यभूतेन राजानकालकसूरिणाऽऽचार्येण वा समाप्तिं नीत इति ग्रन्थस्यास्यान्तिमश्लोकसन्दर्भेणानन्दकविना काश्मीरकेण राजानकरुय्यकवर्येण तथा माणिक्यचन्द्रसूरिणाऽपि प्रकटीकृतम्। श्रीमदानन्दः स्वीयनिदर्शनाख्यटीकायां कथयति—कृतः श्रीमम्मटाचार्यवर्यैः परिकरावधिः। प्रबन्धः पूरितः शेषो विधायाल्लटसूरिणा इति इत्थमेव सोमेश्वर-जयन्तभट्ट-कमलाकर-सरस्वतीतीर्थ-प्रभृतिभिरप्युच्यते।

ग्रन्थस्यास्याशत्रितये तृतीयांश उदाहरणात्मको मम्मटकृतिर्न। तेन तत्समयप्रसिद्धकवीनां ग्रन्थत उद्धृतोऽस्ति। शेषांशद्वयविषयेऽपि तदेककर्तृकं द्विकर्तृकम् इत्यत्र टीकाकाराणां वैमत्यं दृश्यते। प्रायेण वङ्गीया कारिकाकर्तृत्वं भरतमुनौ समारोपयन्ति। तदितरे न क्षमन्ते। भिन्नकर्तृकत्वस्य प्रतिपादयितारस्तु कथयन्ति 'कतिपयकारिका प्रकाशग्रन्थगता भरतप्रणीतनाट्यशास्त्रेऽधुनोपलभ्यन्ते। तथा च ग्रन्थस्यास्य प्रथमकारिकावृत्त्युपक्रमावसरे 'ग्रन्थकृत्परामृशति' इति प्रथमपुरुषपूर्वकनिर्देशः कारिकाकर्तुर्वृत्तिकृद्भिन्नत्वमुपपादयति। दशमोल्लासे च रूपकलक्षणे 'समस्तवस्तुविषयं श्रौता आरोपिता यदा' इति कारिकायां बहुवचनग्रहणं तथा चास्या वृत्तौ 'बहुवचनमविवक्षितम्' इत्युपपादनं कर्तृपृथक्त्वबोधकमेवेति।

इतरेऽत्रेत्थं समादधते—सार्द्धशतकारिकासु द्वे तिस्रो वा कारिका भरतमुनिप्रणीता नाट्यशास्त्रतः सन्दृश्यन्ते। तास्तत एव बुद्धिपूर्वं मम्मटाचार्येणोद्धृता इत्यवसेयाः। कुतः। नैव वामनानन्दवर्धनाचार्यग्रन्थे-

स्योऽपीदमेव अविप्रकर्षो यत्र स्फुटं लिखिता अत्र सुधीभिर्द्रष्टव्याः। प्रथमचतुर्थपञ्चमेषु [illegible] अष्टाध्यायीक्रमानुसारमेव। तत्तत्-सन्धिविषयके [illegible] बाहुल्याद् [illegible] अनुक्तम्। वृत्तावपि प्रथमं [illegible] स्पष्टीकृत्य, यत्र तु [illegible] निर्दिष्टानि [illegible] द्वितीयाध्याये द्वितीयेऽपि [illegible] कार्यम्। अत्र काशिकाग्रन्थस्य [illegible] प्रमाणानि [illegible]।

(क) यदि वृत्तेर्भिन्नकर्तृकत्वमपेक्ष्यते तर्हि तत्र पृथक्मङ्गलाचरणेन भाव्यं तच्च दृश्यते।

(ख) यदि कारिकाकर्तृत्वं [illegible] तर्हि '[illegible]' इति वृत्तिकारोक्तिर्न सङ्गच्छेत।

(ग) [illegible] 'वामनेनाभिहितं तु [illegible] नाम तु पूर्वेषाम्' इत्यत्र पूर्वग्रन्थेन [illegible] निर्दिष्टं [illegible] कारिकायाः सत् [illegible] कारिकायाः [illegible]। इत्थं परिस्थितिं [illegible] कारिकावृत्तिग्रन्थौ [illegible] एकेति सिद्धम्।

डोंबिवली
सं० २०१३

विदुषां विधेयः
सीतारामजयरामजोशी

हिन्दी साहित्यदर्पण

डॉ० सत्यव्रत सिंह एम० ए०, पी-यच० डी०

ऐसे लाक्षणिक ग्रन्थों के विषय में अब तक किए गए रहस्यग्रन्थिभेदक प्रयत्नों में जिस भाषा शैली का प्रयोग किया गया है वह ऐसी उलझन से भरी और अव्यवस्थित-सी पाई जाती है कि जिससे विषय स्पष्ट होने के बदले और जटिल-सा हो जाता है। परिणाम यह हुआ है कि छात्रगण विषय को ही उत्तरोत्तर क्लिष्ट समझ कर हार-सी मान बैठते हैं। क्योंकि बहुत परिश्रम करने के पश्चात् भी सन्देह की निवृत्ति नहीं हो पाती। छात्र-समाज का यह काठिन्य ध्वस्त करने के उद्देश्य से साहित्यशास्त्र के प्रकाण्ड मर्मज्ञ विद्वान्, लखनऊ विश्वविद्यालय के प्रोफेसर श्रीमान् डॉ० सत्यव्रत सिंहजी ने पहले सर्वबोध्य सुगम भाषा में मूल का व्यवस्थित अनुवाद अंकित किया है तत्पश्चात् अपनी विमर्शनाम्नी व्याख्यात्मक विशद टीका प्रस्तुत की है, जिसके द्वारा विषय की दुरूह ग्रंथियों का वस्तुतः सम्यक् समुन्मोचन बन पड़ा है। इसमें कहीं भी मूल की उपेक्षा हुई नहीं प्रतीत होती। छोटे-छोटे वाक्योंवाली सरस, सरल एवं विषय के अनुरूप कल्पित भाषा का प्रयोग करके नाट्यशास्त्रकार, अभिनवभारतीकार, भावप्रकाशनकार, काव्यानुशासनकार तथा रसार्णवसुधाकर के रचयिता आदि अनेक साहित्यमर्मज्ञों के मतों की सहायता से भ्रामक मत-मतान्तरों के निरासपूर्वक इस कौशल से विषय का यथार्थ स्वरूप प्रतिपादित किया गया है कि एक बार पढ़ लेने मात्र से वह हृदयपटल पर अंकित-सा हो जाता है। अन्यान्य ग्रंथों के उदाहरण और मतों से छात्र सरसतापूर्वक विषय की व्यापकता का संग्रहण कर सकते हैं।

ग्रंथ के आरंभ में लगभग १०० पृष्ठों की समालोचनात्मक भूमिका है, जिसमें एक ओर कतिपय अलंकारों पर वैज्ञानिक शोधसंबंधी दृष्टिकोण है और दूसरी ओर प्रमुख अलंकारों का स्वरूप तथा परस्पर वैषम्य संकेतित किया गया है।

व्याख्याकार के इस स्तुत्य एवं सफल प्रयास द्वारा छात्रों एवं अध्यापकों का समानरूप से हित होगा ऐसी आशा है।

छपाई गेट अप आदि आधुनिकतम। मूल्य अत्यल्प १२॥)

महाकवि बाणभट्ट-रचित 'कादम्बरी' पर एक नवीन रचना—

कादम्बरी : एक सांस्कृतिक अध्ययन

डॉ० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल

प्राध्यापक—काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

प्रस्तुत ग्रन्थ की उल्लेखनीय कुछ मुख्य विशेषताएँ—

१ कादम्बरी का सम्पूर्ण कथासूत्र इस प्रकार सुरक्षित है कि उसकी परम्परा में कहीं भी त्रुटि नहीं आने पाई।

२ अनुवाद करते समय आधुनिक हिन्दी भाषा की प्रकृति इस प्रकार व्यवस्थित की गई है कि पाठक उसके माध्यम से उत्कृष्ट संस्कृत शैली का रसमय लालित्य ग्रहण कर सकें।

३ गुप्तयुग की सांस्कृतिक सामग्री का जो भण्डार कादम्बरी में सुरक्षित है उसकी तुलनात्मक व्याख्या—साहित्य, कला और इतिहास के आधार पर इस प्रकार की गई है कि प्रथम बार ही बाण के शब्दों पर नया प्रकाश पड़ा है।

४ ऐसे प्रत्येक स्थल और कठिन शब्दों की सुस्पष्ट व्याख्या पाठकों को इस ग्रन्थ में प्राप्त होगी जिन पर आज तक के किसी टीकाकार ने प्रकाश नहीं डाला।

५ कादम्बरी की रचना में कवि का मूल प्रयोजन क्या था, आरम्भ में राजा का नाम शूद्रक क्यों रखा गया, अच्छोद सरोवर क्या है, महाश्वेता और कादम्बरी किस-किस के प्रतीक हैं, आदि और भी महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का ग्रन्थ के अन्त में आध्यात्मिक दृष्टि से विवेचन किया गया है।

कथानक और काव्य के विधान एवं रस के निधान की दृष्टि से कादम्बरी अपने आपमें पूर्ण है। किन्तु उससे भी आगे जो अपने युग की जिस समस्या का समाधान बाण महोदय कादम्बरी-द्वारा करना चाहते थे उसका भी लेखक ने सप्रमाण स्पष्टीकरण कर दिया है। पाठक देखेंगे कि कालिदास और बाण के सम्मुख युग की सांस्कृतिक समस्या समान ही थी।

ग्रन्थ के आरम्भ में ३५२ अनुच्छेदों की विस्तृत विषयसूची और अन्त में कुछ विशिष्ट शब्दों की अनुक्रमणिका भी दी गई है।

तात्पर्य यह कि कादम्बरी के विषय में इस एक ग्रन्थ को हाथ में लेकर आप इस विषय में अन्य किसी ग्रन्थ की अपेक्षा नहीं करेंगे। हमारा विश्वास है कि एक बार देखकर ही आप भी इसे सचमुच पठनीय, मननीय एवं संग्रहणीय समझेंगे।

विद्यार्थी, अध्यापक एवं साहित्य-प्रेमियों को अविलम्ब इस महत्त्वपूर्ण उपादेय ग्रन्थरत्न का संग्रह करना चाहिए। छपाई सफाई आदि आधुनिकतम। मूल्य १३॥)

प्राप्तिस्थानम्—चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

॥ श्रीः ॥

धर्म
वैलक्षण्य
न्यायसू
वेदान्तसू
सुबुद्ध

काव्यप्रकाश-रहस्यम्



श्रीरामप्रणिहितधीर्विहितगुरुप्रणतिरासततत्प्रणुतिः ।
श्रेयस्कामो युञ्जे प्रकाशरहस्यावबोधाय ॥
यस्याः कटाक्षमात्रेण शेमुषी सम्प्रसीदति ।
तां चिच्छक्तिमयीं देवीं शारदां समुपास्महे ॥

अथ प्रथमोल्लासः

प्रश्नः १—काव्यप्रकाशस्थमङ्गलश्लोकस्य व्याख्याप्रसङ्गेन तन्महत्त्वं प्रतिपाद्य तत्स्थपदानां विग्रहव्याकृतिपुरःसरं समालोचना कार्या ।

उ० १—'ग्रन्थारम्भे विघ्नविघाताय समुचितेष्टदेवतां ग्रन्थकृत्परामृशति' इति प्रास्ताविकी वृत्तिः । तदनन्तरं—

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥

इति मङ्गलश्लोकः । एकप्रयोजनोद्देश्यप्रवृत्तानेकपदसमुदायो ग्रन्थः, तदारम्भे च विघ्नविघाताय समाप्तये वा स्वेष्टदेवतामङ्गलस्यावश्यकतया प्रकृतग्रन्थस्य काव्यपरतया कविनिर्मितभारतीत्यभ्यर्हितां तदधिष्ठात्रीं भगवतीं वाग्देवीं विधातृसृष्टितो व्यतिरेकेणोपश्लोकयति । तत्र सृष्टिस्तावत् नियत्या दैवेन कृता ये नियमास्तैः सहिता भवति, कवेर्वाङ्निर्मितिस्तु तद्विलक्षणा । नियतिश्च पदार्थानामसाधारणो धर्मः, अदृष्टं वा 'दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यं स्त्री नियतिर्विधिः' इत्यमरोक्तप्रकारेण दैवम् अदृष्टपदबोध्या वा नियतिः । चन्द्रस्य नियतिकृतनियमस्तु तदाह्लादकत्वं शीतरश्मित्वं च । कविस्तु तदवमान्य विरहोत्पीडितानां कृते

चन्द्रस्य दाहकत्वमुष्णरश्मित्वं च वर्णयति। अतः कविनिर्मितौ नियतिकृत-नियमो नास्ति तेषामप्रतिहतगतित्वात्।

तथा च ब्रह्मणः सृष्टौ त्रिगुणात्मिका प्रकृतिः सत्त्वरजस्तमोमयी अत एव सुखदुःखमोहस्वभावा साङ्ख्यनये सुप्रसिद्धा सर्वेषां चानुभवसिद्धा 'सत्त्वप्रकृतेः सुखजननम्, रजसो दुःखम्, तमसो मोहः' इति सारयैः प्रतिपाद्यते। काव्ये तु करुणभयानकयो रसयोरपि दुःखमोहौ न भवतः किन्तु सर्वदाऽऽह्लादमात्रमेव। कथमिति चेत्? सुरते दन्तनखक्षतादिभ्य इव। अतः कविसृष्टिः सदैव ह्लादैकमयी आह्लादमात्रस्वभावाऽनुमता। दुःखमोहयोरभावाद् ब्रह्मणः सृष्टेरुत्कृष्टतरा ऽभीष्टतमा च।

घटस्य निर्माणे कार्ये तत्कर्तुः कुलालस्य स्वातन्त्र्यं न दृश्यते। तत्र कर्त्ता कारणपरतन्त्रोऽस्ति। तत्र घटस्योपादानकारणं मृत्तिकैव। सहकारिकारणानामपि घटनिर्माणेऽत्यावश्यकताऽस्ति। यथा दण्डचक्रचीवरादीनामभावे कुलालो घटं निर्मातुं न प्रभवेत्। इत्थं तत्र कर्त्ता स्वाद् अन्यानि यानि कारणानि तेषां परतन्त्रो भवति। कविनिर्मितौ च कविप्रतिभायाः परं न किञ्चिदपि तत्रापेक्ष्यते। अतः कवेः सृष्टिरनन्यपरतन्त्रा मता। 'परतन्त्र'शब्दोऽत्राधीनपर्याय एवेति समालोचनायामग्रे स्पष्टीक्रियते।

ततश्च ब्रह्मणः सृष्टौ षड्रसा एव सुविश्रुता। अत्र काव्ये रसानामाधिक्यं नव इति। ते शृङ्गाराद्या नव। अथवा प्रतिकाव्यं नवीना वा। लोके ये षड्रसाः सन्ति ते सर्वे एव प्राणिमात्राणां हृद्या न प्रतीयन्ते। यथा कट्वादीनां हेयतयाऽनभिरुचेः। अतः सा सृष्टिः षड्रसरुचिरा इति वक्तुं न शक्या। काव्ये तु सर्वे रसाः सदैव हृद्या एव। अतो रुचिराः मनसः आह्लादमात्रजनकाः। अत एव कथिता नवरसरुचिरेति। एतादृशी विलक्षणस्वरूपा कविनिर्मितिमादधती कवेर्भारती जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते। स्वावधिकोत्कर्षप्रकारकज्ञानजनकीभूतो व्यापारो नमः पदार्थः। भगवत्याः सर्वोत्कृष्टतया वर्णनात् सर्वान्तःपातिनः कवेर्नमस्कार आक्षिप्यते इति तां प्रत्यस्मि प्रणत इति।

अत्रेदमपि विशेषेण बोद्धव्यम्। 'नियति०' इत्यादि विशेषणैः मीमांसा-न्याय-साङ्ख्य-वैशेषिक-वेदान्ताभिमतप्रपञ्चसृष्ट्यपेक्षया कविसृष्टेर्वैचित्र्यं प्रतिपाद्यते। तथा हि नियतिर्दैवम्। तच्च स्वकृतसुकृतदुष्कृतकर्मरूपम्। तैश्च कर्मभिरात्मनि भोगानुकूला शक्तिः साध्यते। तदनुसारिणी च गतिरिति सा नियति-

नियतेति मीमांसकसृष्टि । कविसृष्टेस्तु न जन्मान्तरकर्माधीनता । तस्य तत्काल-प्रतिभामात्रजन्यत्वात् । सुखदुःखमोहस्वभावात् साङ्ख्यमते प्रकृतिधर्माणां सत्त्वरजस्तमसां परिणामेन सर्वस्यापि सुखदुःखमोहात्मता । इयन्तु ह्लादैकमयी । चीमसादिभ्य सर्वेभ्योऽपि सुखस्यैवोत्पत्ते । परमाण्वादीति नैयायिकाभिमतसृष्टे वैलक्षण्य प्रागेव प्रतिपादितम् । पङ्क्तेत्यनेन वैशेषिकमतसृष्ट्यपेक्षया विरुद्धत्वं प्रदर्शितम् । न्यायसूत्रेषु प्रमाणप्रमेयादिविचारो, न पदार्थविभाग । स वैशेषिक एव दृश्यते । वेदान्तसृष्ट्यपेक्षया वैचित्र्यमाह—न च हृद्यैव तैरिति । वेदान्तनये ब्रह्मण सुखस्वरूपता । कथमिति चेत्, इच्छान्तरानधीनेच्छाविषयत्वं तावत्सुखत्वम् । इतरासां जनेच्छादीनां सुखीच्छाद्यधीनत्वम् । सुखीच्छायाश्च सुखेच्छाधीनत्वम् । सुखेच्छा स्वात्माधीना । तस्य स्वेच्छान्तराधीनत्वं नास्ति इति तत्रैव सुखस्य विश्रामात् । तस्य सुखस्वरूपता जगतश्च ब्रह्मण एव परिणामत्वात् सर्वस्यापि ब्रह्माभिन्नतया सुखत्वेऽपि तस्यैव ब्रह्मणो वृद्धिकाद्विपरिणामेन न सुखरूपता । अपि स्वात्मत्वेन रूपेणेयुक्त न च हृद्येवेति ।

अत्र श्लोकेऽस्मिन् त्रीण्येव पदानि विग्रहव्याकृतिपूर्वकं विशेषेण समालोचनार्हाणि । तानि त्रीणि—'१ ह्लादैकमयीम् । २ अनन्यपरतन्त्राम् । ३ नवरसरुचिराम्' इति । त्रीण्यपीमानि पदानि 'निर्मितिम्' पदस्य विशेषणानि । 'निर्मितिम्' पदन्तु 'आदधती' इति क्रियापदस्य कर्म भवति । अत सर्वाणि द्वितीयान्तानि ।

१ ह्लादैकमयीम्—अत्र विग्रह ह्लादेन एकमयी ह्लादैकमयी ताम् । सुप्सुपेति समास । अभेदवचने तृतीया 'प्रकृत्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम्' इति वार्त्तिकात् । यथा 'धान्येन धनसयो ग्राम ' इतिवत् । तत्र 'एकमयी'–तिपदं सङ्ख्यावाचकैक शब्दात् 'तत्प्रकृतवचने मयट्' इति सूत्रेण प्रकृतार्थे तद्धित–'मयट्' प्रत्यय' । प्रकृतमित्यस्य प्राचुर्येण प्रस्तुतमित्यर्थो बोद्धव्य । एकमेव वस्तु प्रकृत प्राचुर्येण प्रस्तुत यस्या सा एकमयी । केचिद् एकपद सङ्ख्यावाचि न गृहीत्वा मात्रपर्याय गृह्णन्ति । तदा 'ह्लादैकमयी' इत्यस्य ह्लादमात्रस्वभावा इत्यर्थो भवति । अनेन दुःखमोहौ निराकृतौ भवत ।

२ अनन्यपरतन्त्राम्—अन्यस्य कविभारतीभिन्नस्य (समवाय्यसमवायिनिमित्तरूपकारणस्य) परतन्त्रा अधीना न भवति ताम् अनन्यपरतन्त्राम् । तत्रेत्थं विचारणा भवति यत् अन्यपरशब्दयो पुनरुक्तिदोष सम्भवति वा नवेति ।

तत्र बीजं किल 'परतन्त्र'शब्दस्य कोऽर्थः । पराधीनाधीनपदयोर्भिन्नपर्यायो वा । तत्रामरस्तु–'परतन्त्रः पराधीनः परवान्नाथवानपि । अधीनो निघ्न आयत्तोऽस्वच्छन्दो गृह्यकोऽप्यसौ' इति वक्ति, तत्र केचित् चत्वारि पूर्वपदानि पराधीनवाचकानि । तथा च पश्चान्नन्तरोदाहृतपदानि अधीनवाचकानीति प्रतिष्ठन्ते । तेषां मते 'अन्यपर'शब्दयोरभिन्नत्वेन पौनरुक्त्यापत्तिः । तत्परिहाराय कवेस्तत्प्रतिभायाश्चान्यो य आत्मनः (भारत्या) परः, तदायत्तत्वरहिताम्, इति वदन्ति । तद्व्युत्पत्तिविरुद्धं तथा क्लिष्टमपि प्रतीयते । अमरोक्तसर्वानामपि पदानामेकपर्यायत्वे स्वीकृते प्रश्नोऽयं न सम्भवत्येव । अन्यैश्च तथा स्वीकृतमस्तीति तद्व्युत्पत्त्यनुसारितयाऽतीव समीचीनमिति प्रतिभाति ।

३ नवरसरुचिराम्—नव नवसंख्याका रसाः शृङ्गारादयो यस्यां सा, अथवा नवाः प्रतिकाव्यं नवीना रसा यस्यामिति वा 'नवरसा सा चासौ रुचिरा मनोहरा च ताम्'—एवं बहुव्रीहिगर्भः कर्मधारयः । 'शीतोष्णं जलम्' इत्यादिवद् विशेषणयोरपि मिथो गुणप्रधानभावविवक्षया 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' इति कर्मधारयः समासः । नवानां रसानां समाहारः इति 'समाहारस्तु न' । 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्ट' इति 'त्रिलोकी' 'पञ्चमूली' इतिवत् 'नवरसी' इत्यापत्तिः । अथवा नवरसेन रुचिरा इति तृतीयातत्पुरुषः । नवरसेत्यत्र नव अवयवा यस्य स नवावयवः स चासौ रसश्चेति नवरस इति शाकपार्थिवादित्वाद् मध्यमपदलोपी कर्मधारयः । अथवा नवाः प्रतिकाव्यं नवीना रसाः, अत्र नवाश्च ते रसाश्चेति कर्मधारये 'नवरसा' इति बहुवचनान्तसमासः । तदनन्तरं तृतीयातत्पुरुषे कृते नवरसैः रुचिरा नवरसरुचिरेति समासः, ताम् नवरसरुचिराम् । वृत्तौ च 'न च हृद्यैव तैः'–इति । हृद्या इति बहुव्रीहिगर्भकर्मधारयस्य तथा तैरिति तृतीयातत्पुरुषस्य सङ्केतितत्वात् ।

नन्वेतादृशे गुरुकर्मणि प्रेक्षावतामिष्टदेवताप्रणतिरवश्यं दृश्यते युक्तिमती च । तदनेन स्तुतिमात्रमाचरता यत्र कृता, तदवलेपनादज्ञानाद्वा, उभयथाऽप्यनवधेयवचनता प्रसक्ता । अथ कृतैव, तत्किं स्तुतिवन्नोपनिबद्धा, विशेषाभावात्सैव वा किन्नोपनिबद्धेति चेद् उच्यते । न खलु नतिमात्रोपनिबन्धे स्तुतिर्निबद्धा भवति । स्तुतिनिबन्धे तु अर्थान्नतिरपि निबद्धैव । यतो जयत्यर्थेन वक्तुर्विषयस्य वैशिष्ट्याभ्यमरकार आक्षिप्यते । तेन 'तां प्रत्यस्मि प्रणतः' इति लभ्यते । यत्तूत्तमकाव्य-

स्वसिद्धये व्यङ्ग्यं दर्शयति—'जयत्यर्थेन' चेत्यादि इति वृत्त्यवतारणम् तदयुक्तम् । प्रणामरूपव्यङ्ग्यस्यानतिशयत्वेन ध्वनित्वाप्रयोजकत्वात्, तदर्थं चातिशयिनो व्यतिरेकालङ्कारस्यैवोपन्यासौचित्यात् । इति ।

प्र० २—काव्यस्य किं प्रयोजनम् ?

उ० २—इहेतिग्रन्थेऽभिधेयं सप्रयोजनम् इत्याह । अभिधेयमुद्दिश्य सप्रयोजनत्वं विधीयते इत्यर्थः । अभिधेयं प्रतिपाद्यो विषयः काव्यलक्षणादिरूपः सप्रयोजनं सफलम् । अन्यथा निष्फले कर्मणि प्रवृत्तिर्न स्यात् । ततश्चैतद्ग्रन्थस्य काव्याङ्गतया काव्यसाफल्यद्वारैव साफल्यमिति काव्यस्य तावत् साफल्यं दर्शयति काव्यमिति—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥ इति ।

अत्र 'कृत्' 'विद्' 'युज्' शब्दा भावे क्विबन्ताः । काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणस्य कवेः कर्म लोकोत्तरवर्णनमित्यर्थः । इतरफलापेक्षया प्राधान्याद् यशसः प्रथममुद्देशः । अर्थकृते द्वितीयपुरुषार्थलाभाय । सम्पदादित्वाद्भावे क्विप् । व्यवहारविदाचारज्ञानम् । राजसदसि कथं वर्तितव्यमित्यादि । शिवादितरदमङ्गलम् । अमङ्गलस्मरणादिशब्दानामनुच्चार्यत्वात् 'स कथायोपगता यात समालिङ्गय मङ्गलमि'तिवत् । श्रीमन्नारायणादिस्तुत्यपूर्वद्वाराऽमङ्गलपरिहारो मयूरकवेरिव सूर्यशतकेन । स हि कुष्ठरोगपरिपीडितः पद्यशतकेन सूर्यं स्तुत्वा दिव्यं वपुरासादितवानिति लोके प्रसिद्धिः । सहृदयस्य तु काव्यश्रवणानन्तरमेव सकलप्रयोजनेषु सन्दीस्थायिभावास्वादनसमुद्भूतं वेद्यान्तरसम्पर्कशून्यं रसास्वादरूपमानन्दं सद्यः परां निर्वृतिं निर्मिमीते । उपदेशयुजे इति राजादिगतधर्मार्थपालनादिसमुचितोपायरूपपरिज्ञानं रामादिवद्वर्तनमिष्टसाधनं न तु रावणादिवदित्युपदेशः स च सत्कृत्येषु प्रवृत्त्युपदेशाय दुष्कृत्येषु निवृत्त्युपदेशाय भवति च । काव्यास्वादनकाले कवेरपि सहृदयान्तःपातितया रसास्वादः ।

ननु नीतिशास्त्रादेरपि उपदेशपरतया तत्रैव प्रवृत्तिः स्यात् । किमिति काव्ये इत्यत आह—'कान्तासम्मिततयेति । तथा हि शब्दस्तावत् त्रिविधः प्रभुसम्मितः, सुहृत्सम्मितः कान्तासम्मितश्च । तत्राद्यो यथा शब्दप्रधानो वेदः स हि प्रभुरिव

'त्वमिथ कुरु' इति न समाज्ञापयति। ततश्च नियुक्तानां सन्ध्यावन्दनादौ प्रवृत्तिर्भवति । सुहृत्सम्मितो यथा पुराणेतिहासादि । स तु सुहृदिव 'एव कृते इष्ट, एव कृते चानिष्टम्' इति सदसन्मार्गमात्र प्रदर्शयति । न त्वादिशति । तृतीयस्तु ताभ्यां विलक्षण काव्यलक्षण । स हि कान्तेव सरसकोमलैर्वचोभि स्वाभिमुखीकृत्य उपदेश ग्राहयति । ततश्च सुकुमारमतीना नीरसशास्त्रेष्वक्षमप्रवेशाना राजकुमाराणा सौकर्येण कृत्याकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्त्युपदेशायास्योपयोग । कटुकौषधादिव बालानां शर्करायामिवात्रापि इतरापेक्षया सादरा प्रवृत्ति स्यादिति सर्वथैव काव्यस्य सफलत्वम् । यदाहु 'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्य कलासु च । करोति प्रीतिं कीर्तिञ्च साधुकाव्यनिषेवण'मिति ।

काव्याधद्य प्रभृति लभ्यत इति एतद् दृष्टान्तेन दर्शयति—कालिदासादीनामिति । श्रीहर्षादेरपादानात् । धावक इति कविनाम स हि रत्नावलीनाम्नीं नाटिका श्रीहर्षनाम्ना प्रणीय बहुधनमवाप्तवानिति लोकवाद । समनन्तरमेवेति सद्य परस्यार्थ, काव्यश्रवणाव्यवहितोत्तरक्षणे इत्यर्थ । विगलितमपक्रान्तमन्यद्वेद्य घटादि यस्मिन् आनन्द चर्वणाविपर्यायम् । प्रभुसम्मितशब्दप्रधानवेदादिशास्त्रेभ्य इत्येतस्य, सुहृत्सम्मितार्थतात्पर्यवत्पुराणेतिहासभ्यश्चेत्यस्य च विलक्षणमित्यन्वय । वैलक्षण्ये हेतुमाह शब्दार्थयोरिति । रसस्य शृङ्गारादेरङ्गभूतो व्यापारो व्यञ्जनादि शब्दार्थयोस्तन्निष्पादकत्वाभिव्यञ्जकमात्रतयाऽप्रधानत्वाद्गुणभावेन रसस्यैव प्राधान्यमित्यर्थ । अत एव शब्दार्थप्रधानेतिहासपुराणादिभ्योऽस्य

। यथायोगमिति—कवेरपि सहृदयात्मतत्वेन रसास्वाद इति भाव ।

सत्य तदेकवेद्यत्वात् ।

तत्पुर शब्दप्र... अस्य द्वेधा

न ... मति ... प्रवीव व्याख्यानम् । तथा हि वेदस्याऽपौरुषेयत्वात्कृता तदनेन ... एव प्रयोजका इति शाब्दीभावना प्रवर्तिकेति वेदस्य शब्दप्रधानत्वम् । यद्वा वेदगतानुपूर्वीपाठेनैवापूर्वमुत्पद्यते न तु पर्यायशब्दै यथा 'अग्निमीळे' इत्यत्र न 'वह्निमीळे' इति । अतस्तस्य शब्दप्रधानत्वम् । अत्रेद बोध्यम् । शब्दप्रधानवेदस्य नियत प्रवर्तकत्वेऽपि नरकादिभयात्सन्ध्यावन्दनादौ प्रवृत्ति न पुनरुत्साहात् । गुर्वाज्ञाजन्यप्रवृत्तिवत् । पुराणेतिहासानाञ्च सुहृत्सम्मितार्थतात्पर्यवत्त्वेन प्रवर्तकत्वेऽपि न तेभ्यो नियमेन प्रवृत्ति, काव्ये तु नियमेन प्रवृत्तिरुत्साहपूर्विका चेति विशेष । न तु केषाञ्चित् काव्येऽपि प्रवृत्तिर्न दृश्यते तत्कथमिति चेन्न ।

रसास्वादे वासनायाः कारणत्वात्तदुक्तम् 'निर्वासनास्तु रङ्गान्तः काष्ठकुड्याश्मसन्निभाः' इति।

प्र० ३—'सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्' इति वृत्तिः कारिकागतस्य कस्य पदस्य सम्भवति इति व्याख्यायतां समीचीनतया सर्वमिदम्।

उ० ३—कारिकायां 'काव्यं यशसे०' इति प्रयोजननिवेदनावसरे 'सद्यः परनिर्वृतये' इत्यपि प्रयोजनमन्यतरदुक्तम्। तस्य वृत्तिग्रन्थे यद्व्याख्यानं तद्रूपोऽयं प्रश्नः।

अत्र सद्यःशब्देन 'समनन्तरमेव काव्यश्रवणाव्यवहितोत्तरक्षण एव' इति निष्पन्नम्। परनिर्वृतये—परा चासौ निर्वृतिश्चेति कर्मधारयसमासे कृते श्रेष्ठार्थकपरशब्देन 'विगलितवेद्यान्तरम्' इति निष्पन्नम्। 'सकलप्रयोजनमौलिभूतम्' इत्यपि 'पर'शब्दादेव निष्पद्यते। 'निर्वृति'पदस्यानन्दपर्यायः सर्वविश्रुतः। स च रसास्वादनसमुद्भूतः। सकलेषु यशःप्रभृतिषु प्रयोजनेषु फलेषु मौलिभूतं शेखरायमाणमिति सकलप्रयोजनमौलिभूतम्। सद्यः समनन्तरमेव काव्यश्रवणसमनन्तरमेव विलम्बासहत्वात् काव्यश्रवणाव्यवहितोत्तरकाल एव रसास्वादनसमुद्भूतम् रस्यते आस्वाद्यते प्रकाश्यतेऽनेनेति रसो रत्यादिस्थायिभावः। तस्यास्वादनं नाम विभावानुभावव्यभिचारिभिः संयोजनं तेन समुद्भूतं निष्पन्नमित्यर्थः। अथवा रस्यते इति रसः पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः। आस्वाद्यमानास्वादः सुखस्वरूपम्, समुद्भूतः स्वप्रकाशो ज्ञानरूपोऽनुभूयमानरूपो वा। अत्र रसास्वादनसमुद्भूतमित्यत्र त्रयाणां पदानां कर्मधारयः। रसश्च तदास्वादनञ्च तत्समुद्भूतश्चेति। विगलितवेद्यान्तरं विगलितमस्तमितं वेद्यान्तरं स्वातिरिक्तविषयान्तरं यत्रेति। अन्यद् वेद्य वेद्यान्तरम्। स्वस्यात्मनो ज्ञानरूपविषयादन्यद् घटपटादि तज्ज्ञानविषयो यत्र नास्त्येव तथा। पदार्थज्ञाने घटो विषयः ज्ञान विषयि। अत्र ज्ञानरूप आनन्द एव विषयो विषयी चेति उभौ तदात्मकावेव। अत एवोच्यते 'स्वविषयातिरिक्तवेद्यान्तरसम्पर्कशून्यम्' इति। अतः सर्वेयं पंक्तिः समासेनैवेत्थं व्याख्यायते। सत्स्वप्येतादृशेषु फलेषु सकलफलमूर्धाभिषिक्तः काव्यश्रवणाव्यवहितोत्तरक्षण एव विभावानुभावव्यभिचारिपरिपोषितः साधारणीकरणात्मकेनालौकिकव्यापारेण स्वत्वपरत्वादीनां प्रमोषेण

स्वेतरसकलानुभवशून्यो ब्रह्मास्वाद इव रसास्वादो भवति । स [illegible] रसास्वाद्
परा प्रधानतया निर्वृतिरानन्दः प्रधानप्रयोजनम् । यदुक्तं साहित्यदर्पणकारो
रसस्वरूपवर्णने—'अस्य स्वरूपकथनगर्भं आस्वादनप्रकारः कथ्यते' इत्युपक्रम्य—

> सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः ।
> वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः ॥
> लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः ।
> स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ॥ इति ।

प्र० ४—काव्यस्य कारणमभिधाय शक्त्यादीनां कारणत्वं तृणारणिमणिन्यायेन दण्डचक्रचीवरन्यायेन वेति प्रतिपादयत ।

उ० ४—काव्यस्य प्रयोजनं प्रतिपाद्य कारणमाह—'शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् । काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे' इति कारिका । यस्मिन् सति पुमान् काव्यनिर्माणसामर्थ्यमनुभवति सा शक्तिः कवित्वबीजभूता प्रतिभाऽपरपर्याया संस्काररूपा । तदुक्तम्—प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम् । भृशोत्पत्तिकृदभ्यास इत्याद्यकविसंकथा इति । सा च प्रतिभा पूर्वपुण्यपरिपाके देवतागुरुप्रसादाल्लभ्या सुदुर्लभा च । तदुक्तम्—'नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा । कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा' इति । नन्वेतस्याः शक्तेः काव्यनिर्माणहेतुत्वे किं प्रमाणम् ? इति चेत् । निपुणतादिसमवधानेऽपि शक्त्यभावात् कथञ्चिदपि कविभिर्निर्मितानां पद्यानामुपहसनीयत्वात् । न हि 'शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे तद्वदपि निर्गन्धः काष्ठ' इति वृत्तस्य निर्माणेन कवित्वम् । काव्याङ्गत्वस्यापि तत्राभावात् । अथ प्रकारान्तरेण 'अम्लाननं शालतरुरग्रे विलसति' इति वचनेन च चमत्कारो भवति । तत्र शक्तिरेव बीजम् । स च चमत्कारसिद्धिः कथम् । तदेव कवित्वकारणं शक्तिसम्पत्त्वात् । एवं विवेचितम्—ननु कवित्वबीजभूतायाः शक्तेरभावे यदि काव्यस्यैव प्रयोगमसम्भवम् । निपुणं कथनं केन येन तत्र । शक्तिर्द्विविधा । उत्पादिका व्युत्पादिका च । तत्राद्या शब्दार्थयुगलस्य स्वरूपं सम्पादयति । व्युत्पादिका तु तत्तदर्थस्वरूपविज्ञानादिना शब्दार्थवैदग्ध्यं सम्पादयति । तत्र प्रथमा काव्यं प्रति स्वरूपयोग्यता द्वितीया तु सहकारिणी व्युत्पत्त्यादिसमवधानेन चमत्कारोत्पत्तिं प्रति सहकारिणी । निपुणता विद्वत्तिरित्युच्यते द्वितीयं कारणान्तरम् । तत्र हेतुमाह—

लोकेति। तत्र स्थावरजङ्गमात्मको लोक । तस्य चोपचारात् लोकवृत्ते पर्यवसानम्। लोकव्यवहारानभिज्ञस्य वर्णनाविस्तारचातुर्यस्यासम्भवात्। शास्त्रं व्याकरणादि। अशास्त्रज्ञनिर्मितकाव्यस्य च्युतिसंस्कृतत्वं छन्दोभङ्गादिदोषग्रस्ततयोपहसनीयतैव। काव्य महाकविसम्बन्धि रघुवंशादि। काव्यस्य निर्माणे विस्तृतौ च पौनःपुन्येन प्रवृत्तिरभ्यास काव्यस्य तृतीय कारणम्। तत्र हेतुमाह—काव्यज्ञेति। काव्यज्ञा काव्यनिर्मातार काव्यवेत्तारश्च। तेषा शिक्षया रहस्योपदेशेन। अकाव्यज्ञाना शिक्षया कविसमयादिक न ज्ञायेत। 'इति' शब्द सकलोपस्थापनाय। तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे विस्तारे च हेतु । काव्यत्वावच्छिन्नजन्यतानिरूपितजनकतावच्छेदकताप्रतियोगिकपर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदक त्रित्वमिति भावः। एतदेव वृत्तावाह 'हेतुर्न तु हेतव ' इति। प्रत्येकपर्याप्तत्वे हेतव इति स्यात्। 'न तु हेतव ' इत्यनेन न स्वरूपयोग्यताया निषेध.। किन्तु फलोपधायतायाः। शृङ्गारभिन्नगिस्थले तृणघटितहुङ्कारादिसामग्रीसमवधाने वह्निवत् अत्र शक्त्याद्यन्यतमघटितलेखन्यादिसामग्रीसत्त्वे लोकोत्तरवर्णनात्मक काव्य न जायते। कारणत्वं कार्याव्यवहितप्राक्क्षणवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्व व्यापकत्वस्वरूपम्। यत्र-यत्र कारण तत्र तत्र सर्वत्र कार्यमिति न नियम । कपालादीना सत्त्वेऽपि घटाद्यभावदर्शनात्। सामग्रीत्वे तु व्याप्यत्वस्वरूपम्। सामग्रीसत्त्वेऽवश्य तत्सत्त्वात्। ततश्च शक्त्यादिषु प्रत्येक स्वरूपयोग्यतारूपकारणत्वे स त्यपि न तत्र सामग्रीत्व तृणदण्डकचीवरादीनामिव। अपि तु तत्समुदायवृत्ति। ततश्च काव्यत्वावच्छिन्नजन्यतानिरूपितजनकतावच्छेदकत्वमेकत्वविशिष्ट समुदायत्वम्। तदुक्त शक्ति निपुणताभ्यासा इति बोध ।

प्र० ५—कारिकायां 'इति हेतुस्तदुद्भवे' इति यदुदितं तथाच वृत्तौ 'त्रय समुदिता न तु व्यस्तास्तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्न तु हेतव ' इति यदुक्तं तस्याशयं विशदं प्रतिपादयत।

उ० ५—'इति हेतुस्तदुद्भवे' इति। इतिशब्द पूर्वोक्तपरामर्शक । शक्तिनिपुणताभ्यासा इत्यर्थ । तस्य काव्यस्य उद्भवे निर्माणे हेतु । अत्र हेतुशब्दोत्तरैकवचनार्थ । एकत्व तस्य कुत्रान्वय इत्याशङ्कायां प्रत्ययाना प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वनियमात्। हेतुपदार्थे हेतुविशिष्टव्यक्तौ हेतुत्वे वा अन्वयो वाच्य पर पदार्थ पदार्थेनान्वेति न तु पदार्थैकदेशेनेत्येव व्युत्पत्तिरनस्यार्थ । पदार्था-

न्तरनिष्ठप्रकारतानिरूपितविषयतासम्बन्धेन शाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति शुद्ध विषयतासम्बन्धेन पदस्थितिर्हेतुरिति पदकम्बुग्रीवत्वादेव घटपदजन्यौ निरुक्त-न्वयाभिधाने 'नित्यो घटः' इति न प्रयोगः तत्र घटत्वस्य प्रकारतासमनाधिक-रणेन शुद्धविषयतासम्बन्धेन पदस्थितेरभावात्। प्रकृते च पदार्थस्यैकत्वस्य हेतुत्वेऽन्वयप्रकारक तस्य प्रकारतासमानाधिकरण्येन व्युत्पत्तिविशेषो भवदिति हेतुविशिष्टे स्वपदादेकवाच्यतो वाच्य । स च शक्तिः । अतः शक्त्या व्युत्पत्तौ प्रति प्रत्यक्ष महत्त्वातिरिक्तेन विषयत्वं देयम् । तत्र 'बहवः प्रमाणम्' इत्यादौ प्रमाणपदार्थैकत्वस्य प्रतियोगित्वेऽन्वयः । तथा च एकत्वविशिष्टप्रमिति करणत्व तादृशप्रमितिकरणत्ववन्तो बहवः इति बोधः । प्रयोजनं चात्र देहात्मप्रत्यु-म ज्ञापनमित्यत्र षोडशिनं गृह्णाति, उदिते जुहोति इत्यादिश्रुतिः परस्पर विरोधे नाप्रामाण्यमिति चार्वाकोक्तिनिरासः । प्रकृतेऽपि तृणारणिमणिस्थले दाहं प्रति तृणस्य अरणेः मणेर्वा स्वतन्त्रं फलोपधायकत्वाबहुत्वेऽपि इति यत्कैश्चिदुक्तं 'प्रत्येक-पर्याप्ता फलोपधायकता' इति न तथा, किन्तु अत्र फलोपधायकता व्याप्यवृत्तिरेव (घटं प्रति कुलालचक्रदण्डचीवरादीनां फलोपधायकताया व्याप्यवृत्तित्वेन तत्र कस्यचिदेकस्याभावे घटानुत्पादापत्तिः) इति बोधनमेव प्रयोजनम् । यथा च घटं प्रति कारणानां दण्डचक्रभ्रमणादीनां बहुत्वेऽपि कारणतावच्छे-दकं दण्डत्वं यथा एकं तथैवात्रापि कारणतावच्छेदकमेकत्वविशिष्टसमुदायत्वमेक-मेवेत्येव बोधः पर्यवस्यति। 'काव्यत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितफलोपधायकतावच्छे-दकं यदेकत्वविशिष्टसमुदायत्वं तद्वन्तः शक्तिनिपुणताभ्यासाः' इति ।

ननु 'नह्येकं कारणं पर्याप्तं कार्यं साधयितुम्' इत्युक्त्या कार्यमात्रं प्रति कर्तृ-ईश्वरेच्छा दृष्टादीनां कारणत्वेन तृणारणिमणिस्थलेऽपि तृणस्य कर्तृ ईश्वरेच्छा इत्यादीनां समुदायत्वेन कारणतास्तीति कथं तद्भेदमात्रं भेदः इति चेदुच्यते । घटं प्रति कुलालदण्डचक्रचीवरादीनां यथा समुदायत्वेन कारणताऽत्र तत्रैक-स्याभावे कार्यं नोत्पद्यते एवं तृणस्यारणेर्वाऽभावे कर्तृ ईश्वरेच्छा इत्यादिसहि-तेन मणिना दाहो नोत्पद्यत इति वक्तुमशक्यम् । प्रकृते तु एवं कर्तृ ईश्वरेच्छादि-सहितस्य समस्तकस्य लोकचरणं न रूपकार्यस्य प्रति कारणता नास्ति । किन्तु शक्तिनिपुणताभ्यासानां चक्रचीवरादिवत् समुदायत्वेन कारणत्वेनैवं वैलक्षण्यमनयोरन्यत्वम् ।

प्र० [illegible]—काव्यस्य लक्षणं सोपपत्तिकं निपुणं निरूपयत ।

उ० ६—'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' इति कारिका एवमस्य कारणमुक्त्वा सम्प्रति काव्यस्वरूपमाह 'तददोषौ' इति । शब्दार्थौ तदित्यन्वय । दोषः साक्षात्परम्परया वा रसप्रतिबन्धक । गुणः समवायवृत्त्या काव्यशोभाकर । गुणाना रसनिष्ठत्वात् तद्व्यञ्जकमधुरादिवर्णपर गुणपदमुपचारात् । ननु सालङ्कारत्वविशेषणानुपन्यासात् अनलङ्कारे काव्यलक्षणमतिव्याप्तमित्यत आह—'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' इति । सर्वत्र सालङ्कारावेव शब्दार्थौ काव्यम् । क्वचित्तु स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वक्षति । नञोऽल्पार्थकत्वात् । तस्यास्फुटत्व एव पर्यवसानात् । यत्तु नीरसेऽप्यस्फुटालङ्कारे काव्यत्वमिति तन्न । रसालङ्कारयोरेव चमत्कारहेतुत्वात् । तथा च रसवत्त्वे स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिर्न तु रसाभावे । क्वापीत्यस्य यत्र रसादीनामवस्थानं तत्रेत्यर्थः । नीरसेऽप्यनलङ्कारे किंनिमित्तश्चमत्कारः स्यात् तस्मादलङ्कारमात्रं च न विशेषणम् । किन्तु स्फुटालङ्काररसान्यतरत्वम् ।

यत्तु नवीना दोषाणा दुष्परिहरतया 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' इति सदोषस्यापि काव्यत्वमङ्गीकुर्वन्ति । तथा हि निर्दोषं काव्यं प्रविरलविषयं निर्विषयं वा स्यात् । 'कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता । दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः' इति । तन्न दोषसामान्याभाववत्त्वस्यैव तल्लक्षणत्वात् ।

अथ विशिष्टस्वरूपमाह—तददोषाविति । अदोषौ शब्दार्थौ काव्यम् । अत्रादोषपदेन दोषसामान्याभाववत्त्वं चेत्काव्यलक्षणमुच्यते तदा 'न्यक्कारो ह्ययमेव' इत्यादिश्लोकस्य विधेयाविमर्शदोषदुष्टतया काव्यत्वं न स्यादिति चेदिष्टापत्तिः । तादृशकाव्यस्यैव तल्लक्षणोद्देश्यतावच्छेदकानाक्रान्तत्वात् तत्काव्यसामान्यलक्षणम्, अपि- [illegible] इत्याद्युपप्रवृत्तिनिवृत्त्युपदेशपर्यवसायियशआदिप्रयोजककलाकान्तरवर्गनात्मकस्य काव्यस्य । न हि दुष्टेषु काव्येषु यशआदिप्रयोजकता सम्भवति । नन्वेवं तर्हि दुष्टं काव्यमिति व्यवहारः कथम्, तस्य मवन्मतेऽकाव्यत्वादिति चेन्न । दुष्टो हेतुरितिवत् तस्यौपचारिकत्वनादोषात् । तत्र च हेतुपदेन हेतुत्वाभिमतस्य ग्रहणात् । ततश्च 'न्यक्कारो ह्ययमेवे'त्यत्र न तादृशविशिष्टकाव्यत्वमित्येव सिद्धान्तः । एतेन 'कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यतेत्यादिमतमपास्तम् ।

शब्दार्थाविति । तच्च काव्यत्वं शब्दार्थोभयव्यासक्तम् । तथा हि काव्य

पठतीत्यादि प्रयोगदर्शनेनार्थस्य पठनासम्भवाच्छब्दपाठमात्रेण तथा व्यवहारा-त्खुब्दे, शब्दपाठमात्रेण काव्यप्रयोजनस्य रसास्वादस्य प्रवृत्तिनिवृत्त्योर्वा अभावेना र्थेऽपीत्युभयत्रावश्य स्वीकार्यमिति भाव । यत्तु कैश्चिच्छब्दमात्र एव काव्यत्वमि त्युक्तम्, तन्न । मूलमात्राध्येतु काव्यज्ञ इति व्यवहारादर्शनात् । किन्तु शब्दापेक्षया अर्थाश्रितानामलङ्काराणा गुणानां दोषाणामर्थशक्तिमूलध्वने आधिक्येन प्रतिपाद नादर्थस्याकाव्यत्वे विस्तरस्यानुपयोगाच्चापि काव्यत्वमवश्य स्वीकार्यमेव । 'काव्य श्रुतम् अर्थो न ज्ञात' इत्यादौ प्रयोगोपपत्तिस्तु 'समुदाये प्रवर्तमान शब्द एकदेशेऽपि वर्तते' इति भाष्योक्त्या एकदेशे व्यवहारमादाय, यथा वस्त्रैकदेशे दग्धे वस्त्र दग्धमिति यथा तैल भुक्त, घृत भुक्त, पूर्वे पाञ्चाला इत्यादौ ।

सगुणाविति । ननु गुणानामुत्कर्षमात्राधायकतया काव्यलक्षणे तदुपन्यासो व्यर्थ इति चेन्न । दोषाभावस्य हेयतापादकत्वाभावेऽपि नोपादेयतापादकत्वम् अपि तूपेक्षणीयकत्वम् । न हि निर्गुणस्य दोषाभावमात्रेणोपादेयता दृश्यते । तादृशो-पेक्षणीयविषयाणा बहुशो वर्तमानत्वात् । सगुणत्व तु समवायवृत्त्या काव्यशोभा-करत्व लक्षणेऽवश्य वाच्यम् । अलङ्काराणा तु लौकिकवत् सर्वदाऽनवस्थानात् तेषा सयोगवृत्त्या वर्तमानतया क्वचित् (यत्र रसस्य स्फुट प्रतीति) तदभावेऽपि न काव्यत्वहानि । तथापि 'न कान्तमपि निर्भूष विभाति वनितानननम्' इति दिशा अलङ्कारा काव्यशोभाकरा इति तेषा स्थितिरावश्यकीति अत उक्तम् 'अनलङ्कृती पुन क्वापि' इति ।

प्र० ७—'अनलङ्कृती पुन क्वापि' इति काव्यलक्षणाङ्ग स्फुटं प्रति-पाद्य सोदाहरणविमर्शपुर सरं सुष्ठु व्याख्यायताम् ।

उ० ७—'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुन क्वापि' इति काव्य-लक्षणम् । तत्र 'अनलङ्कृती' इति द्विवचन 'शब्दार्थौ' लक्षयति । अतस्तस्य विग्रह 'न विद्यतेऽलङ्कृतिर्ययोस्तौ' इति सम्पद्यते । अत्र नञ्पदमल्पार्थकत्वेन बोध्यम्, न स्वभावार्थकम् । नञोऽर्था षट् प्रकीर्तिता यथा—'तत्सादृश्य तदन्यत्व तदल्पत्व विरोधिता । अप्राशस्त्यमभावश्चेति । अल्पार्थकत्वमत्र 'अस्फुटार्थत्वम्' तेन सह पुन क्वापि इति पदद्वयेन वृत्ति दर्शयति—यत्सर्वत्र सालङ्कारौ, क्वचित् स्फुटालङ्कारविरहेऽपि (रसवत्त्वे) न काव्यत्वहानिरिति । अत्रेद बोध्यम् । नीरसेऽप्यस्फुटालङ्कारे काव्यत्वमिति तन्न । रसालङ्कारयोरेव चमत्कारहेतु-

त्वात्। तथा च रसवत्त्वे स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वक्षतिः नतु रसाभावे। अत 'क्वापि' इत्यस्य यत्र रसादीनामवस्थानं तत्रेत्यर्थः। नीरसेऽप्यनलङ्कारे किञ्चिन्निमित्तश्चमत्कारः स्यात्। तस्मादलङ्कारमात्रं न विशेषणम्। किन्तु स्फुटालङ्काररसान्यतरत्वम्। अलङ्काराणान्तु लोकवत्सर्वदाऽनवस्थानात्, तेषां संयोगवृत्त्या वर्तमानतया क्वचित् (यत्र रसस्य स्फुटप्रतीतिः) तदभावेऽपि, न काव्यत्वहानिः। तथापि 'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताऽऽननम्' इति दिशा अलङ्काराः काव्यशोभाकरा इति तत्सत्ताऽप्यपेक्षिता। अत उक्तम्—'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' इति। अत एव चन्द्रालोककारकृतोऽयमारोपः—'अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती। असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती' इति, अत्र चरितार्थो न भवति। अत्र नञोऽभावार्थं मनसि निधायोक्तं तेन। काव्यप्रकाशेऽलङ्काराणामभावो न कदापि प्रतिपादितः। रसादिस्थले स्फुटालङ्कारविरहत्वमेव।

अत्रोदाहरणेन स्वाभिमतं विशदीकरोति यथा—'यः कौमारहरः' इति पद्यम्। नन्वत्र चैत्रक्षपासु मालतीकदम्बविकासः कथम्? तयोः प्रावृषेण्यत्वादिति चेन्न। वसन्तस्य कुसुमाकरत्वात् सर्वेषां कुसुमानां तत्र विकाससम्भवादिति केचित्। परन्तु वसन्ते मालतीवर्णनस्य कविसमयविरुद्धतया नैतत् सम्यक्। अत एव कदम्बानिला इत्यस्य 'कदम्बाकारा अनिलाः' इति व्याख्यानेन न निर्वाहः। कदम्बसमाधानेऽपि मालतीवर्णनस्य 'मालत्यास्तु विशेषतः' इति विशिष्य कविसमयविरुद्धत्वात्। अतः चित्रानक्षत्रयुक्ताः क्षपा इत्येवोत्तरं वक्तव्यम्। ततश्च वर्षावसाने चित्रानक्षत्रयुक्तासु क्षपासु मालतीकदम्बवर्णनं सम्यगेव।

अत्रोदाहरणे स्फुटो न कश्चिदलङ्कारः। तथाहि कारणाभावेऽपि कार्योत्पत्तिः विभावना। उत्कण्ठां प्रति वरगतनवीनत्वादि कारणम्। तदभावेऽप्युत्कण्ठारूपकार्योत्पत्तिर्विभावना। स च नवीनत्वाद्यभावो नाभावमुखेन 'स एव हि वरः' इत्यादिना वर्णित इति तस्यास्फुटत्वम्। अथवा 'कारणाभावे कार्योत्पत्तिर्विभावना' इत्यत्र 'कारणतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाववर्णनं विभावनेति तदर्थः। उत्कण्ठां प्रति कारणस्य वरगतनवीनत्वाद्यभावे यद्यपि 'स एव हि वरः' इत्यादिनाऽर्थादापतितस्तथापि न स शब्दतो वर्णित इति विभावनाया अस्फुटत्वम्।

कारणसत्त्वेऽपि कार्यानुत्पत्तिः—विशेषोक्तिः। तथा च प्रकृतेऽनुत्कण्ठाकारणानां

चरगतोपभुक्त वादीना सत्त्वेऽपि उत्कण्ठाभावरूपकार्यानुत्पत्ति । यद्यपि द्वितीया-भावस्य पूर्वाभावप्रतियोगित्वरूपत्वादुत्कण्ठाभावाभाव उत्कण्ठारूप 'चेत समुत्कण्ठते' इत्यादिनोक्त , तथापि नोत्कण्ठाभावाभावरूपेणेति तस्या अस्फुटत्वम्। यद्वा कार्यतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नाभाववर्णने विशेषोक्ति ततश्चानोत्कण्ठाभावरूप कार्याभावस्यार्थादापतितत्वात् तस्या अपि अस्फुटत्वम्। 'चेतो न समुत्कण्ठते इति च' इत्युक्ता तु सा स्यात्।

यत्त्वत्र दर्पणकार 'अत्र विभावनाविशेषोक्तिमूलस्य सन्देहसङ्कराद् अलङ्कारस्य (सङ्करालङ्कारस्य) स्फुटत्वमिति तत्प्रामादिकम्। विभावनाविशेषोक्तयोरस्फुटत्वेन तयो सङ्करस्याप्यस्फुटत्वात्।

नन्वत्र शृङ्गाररसस्य स्फुटत्वाद्रसवदलङ्कार स्फुट इति चेन्न। रसस्यात्र प्राधान्यात्। अप्राधान्य एव तस्यालङ्कारस्याङ्गीकारत्वात्॥ इति।

प्र० ८—काव्यभेदाननुक्त्वा ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोश्च स्वरूपं प्रदर्श्य सोदाहरणं भवन्मतं विशदीक्रियताम्।

उ० ८—काव्यप्रकाशकृता काव्यस्य त्रयो भेदा प्रतिपादिता उत्तममध्यमाधमभेदेन। तत्रोत्तमकाव्यस्य ध्वनिकाव्यमिति अपरपर्यायम्। तत्स्वरूपमाह—'इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधै कथित' इति। अस्यान्वयार्थ एवं भवति। इद काव्यम् वाच्याद् अभिधावृत्तिप्रतिपाद्यादर्थाद् व्यङ्ग्ये व्यञ्जनावृत्तिप्रतिपाद्येऽर्थे अतिशयिनि अधिकचमत्कारकारिणि सति उत्तमम्। तदेव बुधै ध्वनि-पण्डितै 'ध्वनिर्' इत्युच्यते। यथा—उदाहरणम्—'नि शेषच्युतचन्दन०' पद्यम्।

अत्र 'चन्दनस्य स्तनतटे नि शेषच्यवनमधरस्य रागराहित्यम्, नेत्रयो प्रान्तभागेऽनञ्जनत्वम्, तनो शरीरस्य कृशता तथा च रोमाञ्चोद्गम' एतानि लक्षणानि दूतीसम्भोगस्य तथा वापीस्नानस्य च समानानि। अत्र नायिका तस्या प्रियकरसकाशे दूतीं प्रेषितवती इति 'दूति' इति सम्बोधनेन सूचित भवति, सा दूती नायिका प्रत्यागत्य 'मया नायक प्रति गत्वा बहुधा प्रसादितोऽपि नागत स अतोऽहं वापीं स्नातु गता तदनन्तरमत्रागते'ति दूत्या कथन 'मिथ्यावादिनि' इत्युक्तवाद्याधिका तदनृतं मन्यते कथयति च त्वयाऽस्मदशाचरणेन बान्धवजनाना कीदृश पीडागम सञ्जात इति न ज्ञातम्। अतिपीडाकर तवाचरणमिदानीं सञ्जातम्। इति कथयित्वा नायकस्य प्रतारणां दूतीसम्भोगेन नायिकाया विप्रलम्भोद्दीपन मानसीं पीडां च व्यञ्जयितु नायकस्य कृते 'अधम'शब्दस्य

प्रयोगं करोति। येन त्वं वापीं स्नातुं न गताऽसि, तस्याधमस्यान्तिकमेव रन्तुं गताऽसीति वाच्यादतिशयिनि व्यङ्ग्ये सति तस्योत्तमकाव्यत्वं ध्वनिकाव्यत्वं वा।

गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य मध्यमकाव्यस्य लक्षणं तु ग्रन्थकृता एवमुक्तम्—'अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्' इति। अतादृशि वाच्यादनतिशायिनि वाच्यापेक्षयाऽतिशयितचमत्कारानाधायके व्यङ्ग्ये यत्र व्यङ्ग्यं वाच्याद् गुणीभूतमित्यर्थः। तदा तत्काव्यं मध्यमं गुणीभूतव्यङ्ग्यं वोच्यते।

व्यङ्ग्यस्य वाच्यादनतिशयस्तु द्विप्रकारको न्यूनत्वेन तुल्यत्वेन च। अत्र न्यूनत्वस्योदाहरणं दत्तम्। 'ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम्। पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया'। इति। अत्र 'नववेतसमञ्जरीमण्डितकरं ग्रामतरुणं मुहुः पश्यन्त्यास्तरुण्या मुखच्छाया नितरां मलिना भवति' इति वाच्यार्थः। व्यङ्ग्यार्थश्च दत्तसंकेता काचिदुपनायिका तत्र न गता, उपनायकश्च अधुनैव वञ्जुललतासङ्केतस्थाने गत्वैव प्रतिनिवृत्तः इति 'नवे'तिपदेन 'मञ्जरीसनाथकरम्' इति पदेन च व्यज्यते। व्यङ्ग्यमिदं 'वारं-वारं ग्रामतरुणं पश्यन्त्यास्तरुण्या मुखच्छाया मलिना भवति' इति वाच्यार्थातिरमणीयम्। अत एव चमत्काराऽजनकम्। व्यङ्ग्यमत्र गुणीभूतं वाच्यमेवातिशयितम्। एवमिदं मध्यमकाव्यस्योदाहरणम्। तुल्यप्राधान्यस्योदाहरणं 'ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये। जामदग्न्यस्तथा मित्रमन्यथा दुर्मनायते' इति पञ्चमोल्लासे दत्तम्। अत्र जामदग्न्यः सर्वेषां क्षत्रियाणामिव रक्षसां क्षणात्क्षयं करिष्यतीति व्यङ्ग्यस्य 'अन्यथा दुर्मनायते' इति वाच्यस्य समं चमत्कारित्वमिति तयोस्तुल्यप्राधान्यम्। इदमपि गुणीभूतव्यङ्ग्यमेव।

प्र० ९—व्याख्यायतामियं निम्नोद्धृता वृत्तिगता पङ्क्तिः काव्ये ध्वनिव्यवहारस्य समूलताप्रतिपादनाय—'इदमिति काव्यम्। बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य' इति।

उ० ९—अत्रान्ते 'शब्दार्थयुगलस्ये'त्यनन्तरं 'ध्वनिरिति व्यवहारः क्रियते' इत्यध्याहृतं बोध्यम्। 'इदं' पदेन वाच्यमिति प्रोक्तमेव। अत्र ध्वनिकाव्यमिति ज्ञातव्यम्। ध्वनिव्यवहारस्य समूलतामाह—बुधैरिति। बुधा अत्र वैयाकरणाः पतञ्जलिप्रभृतयः। तथा च तदनुसारिणोऽन्येऽपि आलङ्कारिका आनन्दवर्धनाचा-

र्योदय । वैयाकरणाना मते ध्वनिशब्दस्य प्रयोग प्रतिपाद्यते । प्रधानभूतस्फोट रूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्येति । अस्य विग्रह 'प्रधानभूतो य स्फोट, तद्रूप यद्व्यङ्ग्य तद्व्यञ्जकस्य शब्दस्येति, अर्थप्रत्ययरूपफलोत्पादकत्वात् स्फोटस्य प्राधान्यम् । स्फुटयति प्रकाशयति अर्थमिति स्फोट । शब्देषु ये वर्णा सन्ति ते क्षणिका आशुविनाशिन । अर्थबोधे प्रत्येकवर्णाना कारणत्वे राजादिपदघटितैकवर्णादपि राजविषयकबोधापत्ति । वर्णसमुदायस्य कारणत्वे 'योग्यविभुविशेषगुणाना स्वोत्तरोत्पन्नगुणनाश्यत्वादुत्तरोत्तरवर्णोत्पत्तिक्षणे पूर्वपूर्ववर्णध्वसेन कारणाभावाद् बोधो न स्यात् । अत पूर्वपूर्ववर्णसस्कारसहितचरमवर्णश्रावणप्रत्यक्षस्य कारणत्वस्वीकारेऽपि सस्कारस्थितेरक्रमिकतया एकस्माच्छब्दात्तावन्मात्रघु क्रमवर्णवच्छब्दजन्यार्थबोध स्यात् । ततश्च 'नदी' 'दीन' इत्येतयो समानवर्णतयाऽन्योन्यमन्योन्य बोधयेत् । इत्यर्थबोधे स्फोटाख्य ब्रह्मैव (शब्दब्रह्मैव) कारणम् । अतो घटादिभिर्वर्णसमुदायरूपै क्षणिकै पदै स्फोटरूपो नित्य शब्दो व्यज्यते । अत एव वैयाकरणाना मते शब्दो नित्य । तेन चाभिव्यक्तेनार्थ प्रतीयते । तादृशस्य प्रधानीभूतस्फोटव्यञ्जकस्य वर्णसमुदायस्वरूपस्य घटादिशब्दस्य 'ध्वनि' इति वैयाकरणाना सज्ञा । भगवान्पतञ्जलिस्तु शब्दानुशासने स्पष्टीकृत । तद्यथा—'अथ गौ' इत्यत्र क शब्द किं यत्तत्सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणार्थरूप स शब्द' नेत्याह । द्रव्य नाम तत् कस्तर्हि शब्द । येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणवत सम्प्रत्ययो भवति स शब्द । स एव लोके ध्वनिपर्याय यथा शब्द मा कुरु, शब्दकार्यय माणवक, इत्यत्र ध्वनिं मा कुरु ध्वनिकार्यय माणवक इत्येवार्थो बोध्यते । अतो 'ध्वनि शब्द' इति महाभाष्ये प्रतिपादितम् । ततश्च यतो वैयाकरणैरेव व्यवहार कृतस्तस्मादन्यैरपि बुधैरानन्दवर्धनाचार्यप्रभृतिभिरालङ्कारिकै स्वरचितध्वन्यालोकप्रभृतिषु ग्रन्थेषु न्यग्भावितमुपसर्जनीकृत अप्रधानीकृतं वाच्य मुख्योऽर्थो येन तादृशस्य व्यङ्ग्यस्य व्यञ्जने ध्वनने समस्य योग्यस्य समर्थस्य शब्दार्थयुगलस्य तद्रूपस्योत्तमकाव्यस्य ध्वनिरिति व्यवहार क्रियते इत्यर्थ । रसस्यात्र काव्ये प्राधान्यात् शब्दार्थयोश्च तद्व्यञ्जकत्वात् अस्माभिरपि तयोर्ध्वनिरिति व्यवहार कृत इत्यापन्नम् ।

इति प्रथमोल्लास समाप्त



अथ द्वितीयोल्लासः

प्र० १—शब्दानां कतिधा वृत्तिः स्वीक्रियते ? अलङ्कारेतरनयेषु अस्मिन्विषये किमभिप्रेतम् ? अलङ्कारनये को विशेषः ? इत्येतत् सर्वं सोपपत्तिकं प्रतिपाद्यत ।

उ० १—'स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा' इति कारिका। अत्रेति काव्ये। शास्त्रे वैयाकरणानां मते बोधजनकतामात्रं शक्तिः। 'गङ्गायां घोष' इत्यादौ गङ्गाशब्दस्य तीरबोधकताऽस्तीति तदुपस्थितिः शक्त्यैव। सा च शक्तिर्द्विविधा प्रसिद्धाऽप्रसिद्धा च। तत्राद्याऽभिधेत्युच्यते। द्वितीया लक्षणेति च। व्यञ्जनाऽपि यद्यपि तैः स्वीकृता, परन्तु तस्याः स्फोटप्रतीत्यनुकूलता, नार्थप्रतीत्यनुकूलता। अर्थाभिधायकत्वं तु स्फोटस्यैवेति, शब्दस्य वाचकात्मकत्वावैकविध्यम्।

नैयायिकास्तु गङ्गायां घोष इत्यत्र शक्त्या प्रवाहावच्छिन्नविषयकोपस्थितौ तस्यामेकसम्बन्धिज्ञानेन तीरविषयकोपस्थितौ निर्व्यूढायां तत्रेच्छाकल्पनप्रयासो व्यर्थं इति वदन्ति।

तत्रालङ्कारिकाः। गङ्गाशब्देन शक्त्या प्रवाहज्ञाने सति लक्षणया च तीरस्योपस्थितौ वृत्तायां शैत्यपावनत्वादिप्रतीतिर्न स्यादिति तत्प्रतीतये 'व्यञ्जना'नामिका तृतीया वृत्तिरुपास्यते। न च शैत्यपावनत्वादिप्रतीतिर्मानसीति वाच्यम्। सर्वासामिव एतस्या अपि मानसत्वेऽपि गङ्गाशब्दान्वयव्यतिरेकाभ्यामेव तज्जन्यत्वस्य वक्तव्यतया प्रतीतेश्च वृत्तिं विना शब्दजन्यत्वासम्भवान्मध्ये तत्प्रयोजिका व्यञ्जनावृत्तिः स्वीक्रियते इति वाचकव्यञ्जकलक्षकात्मतया त्रैविध्यं शब्दस्य।

तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्। आकाङ्क्षायोग्यतासन्निधिवशाद्वाच्यादीनामर्थानां तत्तत्पदैर्बोधे सति सम्बन्धज्ञानं वाक्यजं भवति तत्र शक्तः 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभाव' इति नयेन क्षीणतया सम्बन्धप्रतीतये वाक्यपर्याप्ता तद्भ्यप्रतीतीच्छयाऽनुच्चारितत्वे सति तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वरूपा तात्पर्याख्या वृत्तिः स्वीक्रियते इति मीमांसकाः। तत्र पदपर्याप्ता अभिधा ज्ञाता सती कारणम्। तात्पर्याख्यवृत्तिस्तु स्वरूपसती कारणमिति विशेषः। एवमस्वीकारेऽश्रुतपूर्वाभिनवकविविरचिताद्वाक्यकदम्बकाद् बोधो न स्यात्। न च नैयायिकाभिमताकाङ्क्ष-

यैव सम्बन्धज्ञाननिर्वाहेऽलं तात्पर्याख्यवृत्त्या इति वाच्यम् । देवदत्तस्य दर्शनमित्यादौ देवदत्तकर्तृकतत्कर्मकोभयबोधानुकूलाकाङ्क्षासत्वेन तत्रान्यतरबोधस्य दुरुपपादत्वात् ।

ननु *वक्त्रिच्छारूपतात्पर्यज्ञानेनैवान्यतरबोधे किमर्थमतिरिक्ता वृत्तिः स्वीक्रियते*–इति चेन्न । तादृशेच्छाया लौकिकवाक्येषु वक्तुं शक्यत्वेऽपि वैदिकवाक्येष्वपौरुषाणां तेषां वक्तुरभावात् । तदिच्छाज्ञानासम्भवात् । न चाध्यापकेच्छाज्ञानाधीनमेव तज्ज्ञानमिति वाच्यम् । अध्यापकस्याव्युत्पन्नदशायामपि व्युत्पन्नानां तदुच्चारितवाक्याद् बोधदर्शनात् । अत आकाङ्क्षाऽनिर्वाह्या । वक्त्रिच्छारूपतात्पर्यज्ञानासिद्धा वाक्यपर्याप्ता तात्पर्याख्या वृत्तिः स्वीक्रियते–इति अभिहितान्वयवादिनः ।

अन्वितामिधानवादिनः—विषयतासम्बन्धेन शाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति विषयतासम्बन्धेन वृत्तिज्ञानाधीनोपस्थितेः कारणत्वात् पदनिष्ठशक्यनिरूपकस्य सम्बन्धस्य प्रतीतिर्न स्यात्, यदि संसर्गताभिन्नविषयतासम्बन्धेन वृत्तिज्ञानाधीनोपस्थितेः कारणत्वमुच्यते, तदा कारणतावच्छेदकताधिक्यप्रयुक्तं गौरवं स्यात् । अतो लाघवात्पूर्वोक्त एव कार्यकारणभावो वाच्यः । ततश्च पदनिष्ठशक्यनिरूपकत्वे सम्बन्धस्य प्रतीतिर्न स्यात् । इति सम्बन्धविशिष्टार्थे एव पदानां शक्तिः । ननु तर्हि तस्यापि वृत्तिनिरूपकत्वे पदेनैव सम्बन्धज्ञानाच्छाब्दबोधस्यापूर्वानुपपत्तिरिति चेन्न । सम्बन्धत्वरूपेण सम्बन्धे ज्ञातेऽपि सम्बन्धविशेषस्य पदेनाप्रतीतेः । इति ।

प्र० २—सविस्तरं सोपपत्तिकं व्याख्यायताम्–'तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्' तथा 'वाच्य एव वाक्यार्थ इत्यन्विताभिधानवादिनः' ।

उ० २—तात्पर्यार्थोऽपि केषुचिदिति । अत्र पदैः, शक्त्या उपस्थितानामर्थानां पश्चादन्वयः–स्वीकुर्वाणा अभिहितान्वयवादिनः । 'गङ्गायां घोष' इत्यादौ शक्त्या प्रवाहरूपार्थे उपस्थापिते 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभाव' इति नयेन शक्तेर्विरतत्वाल्लक्षणया तीररूपेऽर्थे ज्ञाते प्रयोजनस्य शैत्यपावनत्वादेर्व्यञ्जनया प्रतीतिर्भवति । अत्र च सम्बन्धप्रतीतिः केनेत्याशङ्कायां नैयायिकाः–'यत्पदेन विना यस्याननुभावकता भवेद् आकाङ्क्षा', इत्युक्ताकाङ्क्षाज्ञानेनैवाधिकरणरूपार्थोपस्थिति–'रित्याहुः । परमेवं स्वीकारे देवदत्तस्य दर्शनमित्यादौ 'कर्तृकर्मणोः कृति' इति कर्तृकर्मोभयरूपार्थे षष्ठ्या विधानात्सन्देहोत्पत्त्या सम्बन्धप्रतीत्यभावप्रसङ्गः ।

यदि च नैयायिकाभिमतवक्त्रिच्छारूपतात्पर्यज्ञानस्यैव कारणत्वमुच्यते तदपि मीमांसकमते अपौरुषेयवेदे शुकाद्युच्चारितवाक्ये च वक्त्रिच्छाया अभावात्, तादृशवाक्ये तात्पर्यज्ञानं न स्यात्। न च तत्राध्यापकेच्छाज्ञानेनैव तात्पर्यबोध इति वाच्यम्। अध्यापकानामव्युत्पन्नदशायामपि व्युत्पन्नच्छात्राणां बोधदर्शनात्। ततश्च मीमांसकाभिमत—'तदन्यप्रतीतीच्छयाऽनुच्चारितत्वे सति तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वरूपा तात्पर्याख्या चतुर्थी वृत्तिः सम्बन्धज्ञानायावश्यं कल्पनीयेत्याहुः। एवञ्च देवदत्तस्य दर्शनमित्यादौ न दोष.। तदेवोपपादयति—आकाङ्क्षायोग्यतेत्यादिना। प्रतीत्यपर्यवसानमाकाङ्क्षा। अर्थाबाधो योग्यता। पदानामव्यवधानेनोपस्थितिः सन्निधिः। सैवासत्तिर्नाम। इत्यादिसहकारिकारणताज्ञानेन वक्ष्यमाणजातिगुणक्रियासंज्ञारूपाणामन्योन्यं सम्बन्धे जनयितव्ये तात्पर्यार्थः तात्पर्याख्यवृत्ति., तया प्रतीत. विशेषवपुः वाक्यार्थापेक्षया विलक्षणशरीर. घटमानयेत्यादौ घटपदेन समीपस्थाच्छिन्नत्वविशिष्टघटप्रतीतिवत्कर्मत्वादिसम्बन्धरूपोऽपदार्थोऽपि शक्त्याऽप्रतिपाद्यमानो वाक्यार्थ सम्बन्धः समुल्लसति बोधविषयो भवति।

अन्विताभिधानवादिनस्तु आवापोद्वापाभ्यामेव घटादेर्बोधदर्शनात् कथाप्रसङ्गे उच्चारितानां घटादिपदानां वैदेशिकस्य बोधाजनकत्वात् पदार्थान्तरेणान्वितानामेवाभिधानं बोध। ततश्चान्वितो घटो घटपदशक्य इति तेषां मतम्। तन्मते च विषयतासम्बन्धेन शाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति विषयतासम्बन्धेन वृत्तिज्ञानाधीनोपस्थिति कारणमिति नियम। तदुक्त 'शाब्दी ह्याकाङ्क्षा शब्देनैव प्रपूर्यते' इति। एवञ्च सम्बन्धज्ञान वृत्तिज्ञानाधीनोपस्थितिप्रयोज्यमेवास्ति। वृत्तिश्च शक्तिर्लक्षणा वा। तयोश्च स्वस्वार्थमुपस्थाप्य विरतत्वाद्विरतयोः पुनरुत्थानाभावात्। शाब्दबोधे सम्बन्धज्ञानस्य केनापि वक्तुमशक्यत्वात् प्रतीतेश्च दर्शनात् सम्बन्धविशिष्टेऽर्थे पदानां शक्तिरिति वदन्ति। तदेवोक्त 'वाच्य एव वाक्यार्थ' इति।

प्र० ३—'साक्षात्सङ्केतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः' इति वाचकशब्दलक्षणस्य निर्दोषता प्रतिपाद्यताम्।

उ० ३—अत्र 'अभिधत्ते' इत्यस्य अभिधया बोधयतीत्येवमेवार्थस्वीकारे वाचकशब्दवृत्तिव्यापारस्याभिधात्वेन स्वज्ञाने स्वज्ञानस्यापेक्षितत्वात् आत्माश्रयो दोषः स्यात्। अतः केवलं बोधयतीत्येवार्थो वाच्यः। अर्थं बोधयति स वाचक-

इत्येवोच्यमाने 'गङ्गाया घोष' इत्यादौ तीररूपार्थबोधकत्वाद् गङ्गाशब्दस्य वाच कत्व स्यात्। अत सङ्केतितमिति। सङ्केतश्च ईश्वरेच्छा अनादिता पर्यरूपो वा ग्राह्य। प्रकृत गङ्गाशब्दे मतभेदेनोभयोरप्यभावान्न दोष। एवमपि पञ्चवट्या दिपदपु पञ्चाना वटाना समाहार पञ्चवटीति समासात् पञ्चाभिन्नवटसमुदायवि शिष्टस्य देशसामान्यबोधादतिव्याप्ति। अत उक्त साक्षादिति। उपस्थित्यन्तरा व्यवधानन यर्थ। एवञ्च देशविशेषस्यैव प्रतीते सत्त्वान्नातिव्याप्ति। साक्षादर्थ बोधयतीत्यसमु न्यसे सदा द्व अङ्गुल्यौ निर्दिश्य आनयेत्याद्युच्चारिते द्वित्वसङ्ख्याक पदार्थानयनस्य चेष्टाघटनायामतिव्याप्ति स्यादत सङ्केतितमिति, चेष्टास्थले आधु निकाना सञ्ज्ञया परिभाषा च न तु सङ्केतितत्वमिति न दोष।

प्र० ४—व्याख्यायतामियं पङ्क्तिस्तस्या आशयं बोधयितुम्। 'इहागृहीतसंकेतस्य शब्दस्यार्थप्रतीतेरभावात्सङ्केतसहाय एव शब्दोऽर्थविशेषं प्रतिपादयतीति यस्य यथाव्यवधानेन सङ्केतो गृह्यते स तस्य वाचक' इति।

उ० ४—सङ्केत एव शक्ति सा च कुत्रचित् स्वरूपसती कारणम्। यथा वह्नौ दाहानुकूला शक्ति अज्ञाताऽपि वह्निसम्बन्धमात्रेणावश्य दाह जनयति। पदे अर्थबोधानुकूलशक्तिस्तु ज्ञाता सत्येव कारणम्। अत एव वनौषधिवर्गस्थाने कपदानां सङ्केतग्रहाभावे न बोध। सा शक्तिर्यस्य शब्दस्याव्यवहितोत्तर यमर्थं बोधयति तस्मिन्नर्थे तस्य शब्दस्येति स शब्दस्तदर्थवाचक। तदेवाह इहेति निर्दिष्टपङ्क्त्या।

प्र० ५—व्याख्यायतां 'सङ्केतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा' इति।

उ० ५—सङ्केतविषयीभूतोऽर्थं कतिविध इति विभाग दर्शयति—'सङ्केतित श्चतुर्भेद इति। सङ्केतग्रहविषयोऽर्थश्चतुर्विधो भवति जात्यादिरिति। जातिगुणक्रियासञ्ज्ञारूपेणेत्यर्थ। अत्रेद विचार्यते। किं व्यक्तौ शक्तिरुत जातौ? ननु प्रवृत्तिनिवृत्तियोग्यतया अर्थक्रियाकारितया व्यक्तावेव शक्तिरिति। गामानयेत्यादिवाक्यश्रवण गोव्यक्तेरेवानयनादिदर्शनात्। जातश्चानयनासम्भवाद् अप्रयोजकत्वाच्च गोपदस्य सास्नादिविशिष्टगोव्यक्तावेव शक्तिरिति केचिद्वदन्ति। परमेवमुच्यमाने गोव्यक्तेर्नानात्वात् प्रतिव्यक्तिशक्तिकल्पनेन शक्त्यानन्त्य,सङ्ग

एकस्मिन्नपि गोत्वज्ञाने जाते कालान्तरेऽन्यगोदर्शनेन गोरूपार्थस्योपस्थिते सद्भावात् साध्याभाववद्वृत्तित्वलक्षणो व्यभिचारश्च। यतो गृहीतसङ्केतायां व्यक्तौ विनष्टाया व्यक्त्यन्तरेऽपि बोधदर्शनात्तद्व्यक्तिगततद्व्यक्ति त्राभावश्चव्यक्त्यन्तर वृत्तित्वात्। किञ्च धर्मविशेषपुरस्कारेण शक्यग्रहे व्यक्तिमात्रबोधस्वीकारे 'गौ, शुक्ल, चल, डित्थ, इत्यादीनां व्यक्तिरूपेणैव बोधापर्यायतापत्तिरिति उपाधौ प्रकारीभूते धर्मे गोत्वादिरूपे शक्ति। गोत्वे शक्ते स्वीकारे च ना वस्यैवयानानन्त्य व्यभिचारौ। स चोपाधिर्द्विविध। वस्तुधर्मो घटत्वादि वक्तृयदृच्छासन्निवेशितो नामरूपो डित्थादिश्च। तत्र वस्तुधर्मोऽपि द्विविध। सिद्ध साध्यश्च तत्र साध्य क्रियारूप अधिश्रयणादारभ्याध श्रयणान्त मध्ये विधायमानो दर्वी परिवर्तनफूत्कारादि। इत्थ साध्यस्तु पूर्वापरीभूतैकदेशोऽधिश्रयणाध श्रयणादि क्रियारूप। यदाहु —'यावत्सिद्धमसिद्ध वा साध्यत्वेनाभिधीयते। आश्रितक्रमरूपत्वात् सा क्रियेत्यभिधीयते' इति। सिद्धस्तु द्विप्रकारक। पदार्थस्य प्राणप्रदो विशेषाधानहेतुश्च। पदार्थस्य प्राणप्रदो नाम निरवच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितप्रकारताश्रय। धर्मान्तराणां यो धर्मितावच्छेदक, यस्य च धर्मितावच्छेदकमन्यन्नास्ति सैव जाति। जननेन प्राप्यते या सा। यावदाश्रयस्थितिसम्बन्धिनी यथं। यथा नीले घट इत्यादौ घटे विद्यमाना घटत्वरूपा। यद्यपि गोत्वसमशालित्वमेव शुक्लादे सम्बन्धित्वमस्तीति तत्रापि जातित्वमापतितम्। तथापि पाकाद्यन्तर शुक्लादि सम्बन्ध कदाचिदपैति न तु गोत्वस्य सम्बन्ध इति प्राणप्रदत्व गोत्वादे। तदुक्त वाक्यपदीये (भर्तृहरिणा) 'गौ स्वरूपेण न गौ नाप्यगौ गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौरिति। अयमर्थ —गौर्यति स्वरूपेण न गोव्यवहारविषय नाप्यगोव्यवहारविषय। गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गोव्यवहारविषय।

विशेषाधानहेतुर्गुण। गोत्वादिना लब्धसत्ताक वस्तु शुक्लादिनेतरेभ्यो व्यावर्त्यते। नीलादयो हि घटादिक सजातीयरक्तादिघटेभ्यो व्यावर्तयन्ति। डित्थादिशब्दानामिति। ननु तत्र क्वचित् डित्थस्वरूपो धर्म पित्रा डवित्थपदेन सङ्केतिते डवित्थपदेन व्यवहारसम्भवात् तत्र डित्थादिसंज्ञाशब्दानां स्वरूपम् अन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यम् अन्त्यबुद्ध्या पूर्वपूर्ववर्णश्रावणप्रत्यक्षजन्यसंस्कारसहितचरमवर्णश्रावणप्रत्यक्षे निश्चयेन बुद्धिसंवेद्यमिति नैयायिका। 'पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च' इत्युक्त्या अखण्डपदस्फोटस्य स्वीकारात् संहृतक्रममिति वैया-

करणाः। अक्रमस्फोटाख्यं शब्दस्वरूपं वक्त्रा यदृच्छया डित्थाद्यर्थेषूपाधित्वेन कल्प्यत इति सोऽयं संज्ञारूपो यदृच्छात्मक इति। अत्र प्रमाणमाह—'गौः शुक्लः चलो डित्थ इत्यादौ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरि'ति महाभाष्यकारः इति। शब्दानामर्थे या प्रवृत्तिः सेत्थं प्रकारचतुष्टयवती। नन्वेवं सति परमाण्वादीनां जातित्वं स्यान्न गुणत्वम्। तादृशपरिमाणस्य यावत्स्थितिसम्बन्धित्वाद् इति चेत्सत्यम्। जातिशब्दा एवैते। वैशेषिकमतानुसारेण तु तत्र गुणत्वव्यपदेशः।

जात्यादिरिति पक्षमित्थं व्याख्यायेदानीं जातिरेव वेति पक्षं निरूपयति। ननु पटादिनिष्ठानां शुक्लादिगुणानां गुडतण्डुलादिनिष्ठानां पाकादिक्रियाणाञ्च भेदस्य प्रत्यक्षतः सिद्धौ नानात्वं स्यादिति चेन्न। वस्तुतस्तेषामेकरूपत्वात्। भेदप्रतीतिस्त्वाश्रयौपाधिकीति। गुणक्रियायदृच्छाशब्दानामाश्रयभेदाद्भेदप्रतीतिः वस्तुत एकरूपत्वमेव। यथा एकस्यैव मुखस्य खड्गे तारल्यादिविशिष्टा, मुकुरे स्वच्छा, तैले मलिना प्रतीतिः, न तु तत्र मुखानां वस्तुतो भेदः। एवं हिमगतशौक्ल्यं चाकचक्यादिविशिष्टं, दुग्धगतं स्वच्छं, शङ्खगतं मलिनमिति भेदेऽपि अभिन्नाभिधानप्रत्ययोपपत्तिर्येन शुक्लादिना तत्सामान्यं नाम जातिः। तत्रैव लाघवात्सङ्केतोऽङ्गीकर्तव्यः। क्रियायामपि गुडतण्डुलसूपपाकादीनां वस्तुतो भेदेऽपि येन पाकत्वादिनाऽभेदः प्रतीयते तदपि जातावेवान्तर्भूतम्। संज्ञाशब्दस्थले बालतरुणवृद्धशुकोदीरितानां डित्थादिशब्दानां भेदः। शरीराणामवयवोपचयापचयसद्भावात् व्यक्तिभेद एव वा, एवं सत्यपि येन डित्थत्वादिनाऽभेदप्रतीतिः, तदपि सामान्यमेवेति जातिरेव प्रवृत्तिनिमित्तमित्याहुः। नैयायिकादयस्तु—न व्यक्तिमात्रे शक्तिः नापि जातिमात्रे, आद्ये आनन्त्याद्व्यभिचाराच्च, अन्त्ये व्यक्तिप्रतीत्यभावप्रसङ्गात्। तस्माज्जातिविशिष्टव्यक्तावेव शक्तिः। ततश्च शक्यतावच्छेदकं गोत्वादिकं जातिरिति नानन्त्यमिति वदन्ति। तद्वानिति व्यक्तीनामानन्त्याज्जातेश्चानयनाद्यसम्भवाज्जातिविशिष्टव्यक्तावेव शक्तिरिति। बौद्धास्तु—(सौगताः) 'यत्सत्तत्क्षणिकं यथा जलधरः सन्तश्च भावा अमी तस्मात्ते क्षणिकाः' इति सिद्धान्तरीत्या भावमात्रस्य क्षणिकत्वाज्जातिव्यक्त्योरपि तथात्वान्नित्यत्वाभावाद् आनन्त्याच्च जातौ व्यक्तौ वा सङ्केतस्य वक्तुमशक्यतया तद्भेदाभावे तदनुगतायामतद्व्यावृत्तौ लाघवात्सङ्केत इति वदन्ति। तत्र किमयुक्तं किं युक्तमित्यादि रसन प्रदर्श्यते।

ननु डित्थमानयेत्युक्ते सङ्केतसम्बन्धेन डित्थपदवन्तमानयेति बोधदर्शनात् तत्र डित्थपदस्य प्रकारीभूतत्वात् तस्य जातित्वाभावेन कथं जातावन्तर्भावः इत्यस्चेत्राह—

प्रतिक्षणं भिद्यमानेषु डित्थाद्यर्थेषु वेति। वस्तुतस्तु यत्र साक्षाज्जातेः प्रकारत्वाभावस्तत्र परम्परया जातिः प्रकारतया स्वीक्रियते यथा दण्डीत्यादौ प्रकारीभूतस्य दण्डस्य जातित्वाभावेन महाभाष्योक्तरीत्या जातिगुणक्रियासंज्ञारूपचतुर्विधशब्दे एवान्तर्भावस्यावश्यं वक्तव्यतया गुणे क्रियायां संज्ञायां वा सर्वथाऽन्तर्भावासम्भवाद्दण्डे प्रकारीभूतस्य दण्डत्वस्य जातित्वमादाय परम्परया दण्डिशब्दस्यापि जातिवाचकत्वाज्जातिशब्देऽन्तर्भावो भवति तथैवात्रापि 'डित्थ' पदस्य जातित्वाभावेऽपि डित्थपदे प्रकारीभूतस्य डित्थपदत्वस्य जातित्वेन परम्परया डित्थपदस्यापि जातिवाचकत्वान्तर्भावो भविष्यत्येवेति न दोषः।

प्र० ६—सोपपत्तिकं व्याख्यायतामियं कारिका—

> मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
> अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया॥

उ० ६—मुख्यार्थबाधे इति। मुखमिव मुख्यः शाखादिरवयवः। प्राथमिकप्रतीतिविषयो वाच्यार्थ इत्यर्थः। तस्य बाधेऽनुपपत्तिग्रहे। तद्योगे इति—तस्य लक्षणीयार्थेन सह योगे सम्बन्धे, रूढितः प्रयोजनाद्वाऽन्योऽर्थो यया वृत्त्या लक्ष्यते सा लक्षणा नाम। 'अथ' शब्दस्यार्थः अथवा वेति। 'लक्ष्यते—यत्सा' इत्यनेन 'यया वृत्त्या लक्ष्यते सा' इति बोध्यम्। इति कारिकाया अन्वयः।

अथ विशेषप्रदर्शनम्। मुख्यार्थबाधे इति। अत्र मुख्योऽर्थो न व्युत्पत्तिलभ्यः। अन्यथा गोशब्देन 'गच्छतीति गौः' इति व्युत्पत्त्या गमनक्रियाकारित्वरूपार्थे प्रतीतेः गोव्यक्तिबोधसिद्धये लक्षणाऽऽश्रयणीया स्यात्। लोके तु व्युत्पत्तिलभ्योऽर्थो नैव प्रतीयते। अपि तु गोशब्दश्रावणप्रत्यक्षाव्यवहितोत्तरकाले गोरूपार्थस्य बोधो भवति इति तत्र गोशब्दस्य वाचकत्वमेव। तस्य बाधे वाच्यार्थस्य बाधे सतीति भावः।

तद्योगे। तेन मुख्यार्थेन योगे सम्बन्धे। सर्वथाऽसम्बद्धार्थप्रतीतौ तत्र शब्दे उपस्थितिशाब्दबोधानुकूलव्यापारद्वयकल्पनेन गौरवं स्यात्। सम्बन्धे च सति

तज्ज्ञानाधीनलक्ष्यार्थस्योपस्थितौ तत्र शाब्दबोधानुकूलव्यापारमात्रपरिग्रहेणो पस्थित्यनुकूलव्यापारकल्पनाराहित्यप्रयुक्तं लाघवम्। तत्र लक्षणायां कैश्चिद् अन्वयानुपपत्तिस्तात्पर्यानुपपत्तिश्च कारणमित्युक्तम् तन्न। तात्पर्यानुपपत्त्यैव कार्य निर्वाहे उभयत्र कारणत्वकल्पने गौरवात्। तथाहि—'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यादाविव 'यष्टीः प्रवेशय' इत्यत्रापि तात्पर्यानुपपत्तिरस्त्येव। न हि यष्टी बहिः संस्थाप्य प्रविविक्षुस्तु यष्टीः प्रवेशयेति प्रयोगः क्रियते। आवृतदेशावच्छिन्नसंयोग प्रवेशपदार्थः [illegible] च यष्टिधारिणामिव यष्टीनामप्यस्तीति तात्पर्यानुपपत्तिरस्त्येवेति तस्या एवोपादानलक्षणाबीजता। रूढित इति—'कर्मणि कुशलः' इत्यादौ कुश ग्राहिरूपमुख्यार्थग्रहमन्तरेव समुदायशक्त्या विवेचकत्वादिरूपोऽर्थः प्रतीयते। राजपुरुषहस्त्यादिवदवयवशक्तिग्रहोत्तरमेव समुदायशक्तिग्रहो भवति तथापि न तत्रैवावयवार्थोऽत्र समुदायार्थघटकः रथन्तरादिपदेषु रथतृपदजन्यतत्तत्पदार्थो पस्थितिपूर्वक एव समुदायशक्त्या सामविशेषरूपोऽर्थो बोध्यते। परन्तु न तत्र रथादीनां समुदायार्थेन कश्चित् सम्बन्धः। अत्र तु कुशग्राहिरूपार्थेन साधर्म्या दिसम्बन्धो विवेचकत्वादेरस्तीति रूढिः। पूर्वत्र तु न रूढिरिति भेदः। 'कर्मणि कुशलः' इत्यादौ कुशलादिपदे कुशकर्मकादानकर्तृत्वरूपार्थे विवेचकत्वादिना सम्ब न्धसद्भावात् तदर्थस्य लक्षणया प्रतीतिः। अत्र च 'निरूढा लक्षणाः काश्चित्सा मर्थ्यादभिधानवत्' इत्युक्तदिशा प्राधान्यतो लक्ष्यार्थस्य बोधः। यत्तु 'कलिङ्गः साहसिकः' इत्यत्र कलिङ्गशब्दस्य तद्देशवासिनि लक्षणेत्युक्तम् तन्न। 'जनपद शब्दात्क्षत्रियादञ्' इति सूत्रे जनपदक्षत्रियवाचकयोरित्युक्त्या कलिङ्गादिशब्दानां देशे देशवासिनि च वाचकत्वस्यैव स्वीकारात्। अनादितात्पर्यवती निरूढा लक्षणा। तदुदाहरणं 'कर्मणि कुशलः' इति। ततश्च तत्र कुशग्राह्यर्थप्रतीतिव्यवहितत्वात्रि रूढित्वम् तेन च सम्बन्धाल्लक्षणात्वम्।

अथ प्रयोजनात्—यथा 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र [illegible] प्रवाहे घोषाधारत्वमनु पपन्नम्। प्रवाहस्य तीरे सामीप्यादिसम्बन्धः। शैत्यपावनत्वातिशयप्रतीतिः प्रयोजनमितीयं प्रयोजनवती लक्षणा। स च व्यापारो यद्यपि अर्थनिष्ठस्तथापि [illegible] शब्दे आरोप्यते इति साऽऽरोपिता क्रियेत्याहुः।

प्र० ७—व्याख्यायन्तामिमाभ्रितस्य कारिका प्रन्थसुदुपसरण्या साक्षेपसमन्वयपूर्वकं यत्र तयोरप्यन्वयस्ता प्रतीयेत।

(१) स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा॥

(२) सारोपाऽन्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा।
विषय्यन्तः कृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात्साध्यवसानिका॥

(३) भेदाविमौ च सादृश्यात्सम्बन्धान्तरतस्तथा।
गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ लक्षणा तेन षड्विधा॥

उ० ७—यदा प्रयोजनवत्या लक्षणाया प्रवाहरूपार्थेन तीरविषयकोपस्थितिर्न भवति तदा कथं गङ्गापदनिष्ठलक्षणाज्ञानाधीनतीरविषयकोपस्थितिरिति चेदत्र ब्रूमः। 'शाब्दी ह्याकाङ्क्षा शब्देनैव प्रपूर्यते' इति सिद्धान्तात् शब्दं विनाऽर्थबोधनासम्भवात् गङ्गाशब्दे उपस्थापकता आरोप्यत इति। साऽत्र लक्षणा द्विविधा। यत्र शक्यार्थस्यान्वयसिद्धये परार्थस्योपस्थापनं सा उपादानलक्षणा। यत्र परार्थोपस्थापनार्थं शक्यार्थस्य त्यागः सा लक्षितलक्षणा चेति। 'कुन्ताः प्रविशन्ति' इत्यादौ (आवृतदेशावच्छिन्नसंयोगानुकूलो व्यापारः प्रवेशपदार्थः) प्रवेशः कुन्तधारिपुरुषाणामिव कुन्तानामप्यस्ति। न खलु कुन्तधारिपुरुषाः कुन्तान् बहिः संस्थाप्य प्रविशन्तीति कुन्तानुपादाय कुन्तधारिपुरुषा लक्ष्यन्ते इत्युपादानलक्षणा। अत्र हि नैयायिकाः—अरुणादिपदानामारुण्ये शक्तिं आरुण्यविशिष्टे लक्षणेत्याहुः। हेतुश्चात्र वदन्ति। 'शक्यघटिते शक्तिर्न स्वीक्रियते' इति कथमिति चेत्, शक्तिर्नामेश्वरेच्छा सा चानुमेया। घटपदे धारणेन घटरूपार्थस्योपस्थित्या घटरूपार्थे ईश्वरेच्छा कल्पयितुं शक्या। आरुण्यविशिष्टे तु 'गुणगुणिनोः समवायः' इति समवायसम्बन्धज्ञानाधीनोपस्थितिर्भविष्यत्येवेति 'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः' इत्युक्त्या तत्र लक्षणैव शक्तिरिति वदन्ति। तथैव जातिशक्तिवादिनो मीमांसकाः—गोत्वे शक्तिं गोत्वविशिष्टव्यक्तौ 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत्क्षीणशक्तिर्विशेषणे' इत्युक्त्या शक्तेर्वक्तुमशक्यत्वेन जातिव्यक्त्योः समवायसम्बन्धस्य क्लृप्तत्वाच्छक्यसम्बन्धरूपा लक्षणेत्याहुः। परन्तु लक्षणायां कारणस्य प्रयोजनस्य ईश्वरेच्छाया असाध्वितात्पर्यरूपरूढेर्वा अभावेन तत्र लक्षणाया अनवसरात्। व्यक्तेः प्रतीतिस्तु व्यक्तिं विना जातेरनुपपन्नत्वेन 'यत् विना यदनुपपन्नं तत्तेनाक्षिप्यते' इति आक्षेपादेव तदेवानुमानम्। व्याप्येन गोत्वेन व्यापकस्य गोत्वविशिष्टस्य व्यक्तेरनुमानम्। 'कुन्ताः प्रविशन्ति' इत्यादौ कुन्ताः कुन्तधारि-

पुरुषव्याप्त्या न भवन्तीति नानुमानावसरः । अनुपपत्त्याक्षेपे दृष्टान्तमुपदर्शयति । क्रियतामित्यत्रेति । आक्षेपार्थं कर्मं कृधात्वर्थं कृतिः, तस्याश्च साश्रयत्वेन कर्तुराक्षेपः । कुर्वित्यत्र कृतेः सविषयत्वेन कर्मण आक्षेप एव 'प्रविश पिण्डी'मित्या-दावपि ज्ञेयम् ।

यत्तु 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यादौ दिवाभोजनस्यानुपपत्त्यार्थमादाय तस्य रात्रिभोजनं प्रतीयते इत्युपादानलक्षणेयमिति । तन्न । तथाविधस्थले पदाभावाल्लक्षणाया असम्भवात् दृष्टार्थापत्त्या श्रुतार्थापत्त्यैव कार्यनिर्वाहे लक्षणाया व्यर्थत्वात् । 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ तीरस्य घोषाधारत्व-सिद्धये शक्यार्थस्य प्रवाहस्य सर्वथा त्याग इत्यतो लक्षणलक्षणा । एषा चैव लक्षणहेतुत्वात् लक्षणलक्षणेत्युच्यते । तदुक्तं साहित्यदर्पणे—'उपलक्षणहेतुत्वा-देषा लक्षणलक्षणे'ति । उपलक्षणत्वं च—अविद्यमानसद्भावसत्त्वम् । तदुदाहरणम् 'काकवन्तो देवदत्तस्य गृहाः' इति । अत्र तदानीं काकस्यैतदानीमविद्यमान-त्वेऽपि देवदत्तस्य गृहस्येतरगृहापेक्षया व्यावृत्तिः । एवं 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र गङ्गाशब्देन तीररूपार्थे लक्षितेऽपि गङ्गातीरस्यैव प्रतीतिः, यमुनादितीराणां व्या-वृत्तिरिति लक्षणलक्षणेति । अत्रोदाहरणद्वयेऽपि शुद्धैव लक्षणा । तदुक्तं—'भेदाविमौ चे'ति । सादृश्यसम्बन्धलक्षणा गौणी तद्भिन्नसम्बन्धमूला शुद्धेत्यर्थः । 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र प्रवाहतीरयोः परस्परसम्बन्धरूपधर्मप्रकारकबोधविषय तात्पर्यम् औदासीन्यं भासतीति शक्यतावच्छेदकप्रकारकसम्बन्धविषयोऽयम् प्रवाहत्वेन तीरस्य बोधः, न तु प्रवाहत्वेन प्रवाहस्य तीरत्वेन तीरस्येति । ननु तीरे प्रवाहत्व-बाधितमिति कथं प्रवाहत्वेन तीरस्योपस्थितिरिति चेत् । प्रवाहत्वस्य तीरे प्रवाहस्य बाधितत्वेऽपि स्वप्रकारकारोपविषयत्वसम्भवेन बाधाभावात् ।

तीरादीनां गङ्गादिशब्दैः प्रतिपादने तत्रैव प्रवाहत्वेन तीरस्योपस्थितौ शैत्य-पावनत्वादेरपि । गङ्गातटे घोषः—इत्यादौ प्रयोगेऽभिधयैव तीरादेरुपस्थितिरिति प्रयोजनस्य शैत्यपावनत्वादेर्न प्रतीतिरिति लक्षणायां भेदः ।

एवं शुद्धलक्षणाया भेदद्वयमुक्त्वा गौणीलक्षणाभेदानाह—सारोपेत्यादि । यत्रारोपविषयतावच्छेदकप्रकारिका आरोप्यमाणतावच्छेदकप्रकारिका च भेदेनोप-स्थितिस्तत्र सारोपा लक्षणा । आरोप्यमाणमात्रस्यैव निर्देशे सति साध्यवसाना लक्षणा । 'गौर्वाहीकः' इति सारोपाया उदाहरणम् । अत्रोच्यते । गौर्वाहीक

इत्यत्र गोत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदाभाववान् वाहीक इति बोध, वाहीकत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदाभाववान् वाहीक इति बोधो वा। आद्येऽसम्भव, वाहीके गोत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदस्यैव सत्त्वात्। अन्त्ये घटो घट इतिवदभेदान्वयानुपपत्ति। प्रकारतावच्छेदकविशेष्यतावच्छेदकयोर्भेद एवाभेदान्वयस्य नियमात्। केचित्तु लक्षणया जाड्यमान्द्यादिकमाश्रित्य जडो वाहीक इति बोधमाहु। तत्रोच्यते। किंगता जाड्यमान्द्यादयो गुणा लक्ष्यमाणा प्रतीयन्ते? गोगता वाहीकगता वा। गोगताश्चेत् सर्वथा बाध गोगतगुणस्यान्यत्राविद्यमानत्वात्। वाहीकगताश्चेत् सामान्याधिकरण्य न सङ्गच्छेत। शक्येन साक सम्बन्धाभावश्च नहि गुणाभिन्नत्व वाहीकस्यास्ति तयोर्गुणगुणिनो समवायसम्बन्धस्य नियतत्वात्। यदि च गोगतजाड्यवृत्तिजाड्यत्वत्रजाड्यपर्यन्त लक्षणाऽङ्गीक्रियते तदापि सैवानुपपत्ति अत सजातीयगुणाश्रयत्वेन वाहीकार्थ एव लक्ष्यते इत्येव साधु। तथा च गोगतजाड्यवृत्तिजात्यत्ववद्वाहीकगतजाड्यवति लक्षणा। ततश्च तयोरभेदान्वये स्वप्रकारकारोपविशेष्यत्वसम्बन्धेन गोत्वावच्छिन्नो वाहीक इति बोध। जाड्यमान्द्यादिप्रतीतिश्च लक्षणाया प्रयोजनम्। उक्तञ्च भट्टवार्त्तिके—'मानान्तरविरोधे तु मुख्यार्थस्य परिग्रहे। अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणेष्युच्यते। लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता'। 'गङ्गाया घोष' इत्यादौ मुख्यार्थस्य प्रवाहस्य स्वीकारे प्रवाहे घोषाधारत्वासम्भवात् प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरेण विरोधे सति अभिधेयेन प्रवाहरूपार्थेनाविनाभूतं सम्बद्ध यत् तटादि तत्प्रतीतिकरणीभूतो व्यापारो लक्षणेत्युच्यते। गौर्वाहीक इत्यत्र लक्ष्यमाणस्य वाहीकस्य गुणैर्जाड्यमान्द्यादिभिर्योगाच्छक्यसम्बन्धाद् वृत्तेर्गौणता इष्टा गौणी लक्षणा भवतीत्यर्थ। अविनाभावश्चात्र सम्बन्धमात्र न तु व्याप्ति। तथा सति मञ्चा क्रोशन्तीत्यत्रो मञ्चस्थपुरुषाणा मञ्चेन साक व्याप्यव्यापकभावस्यासत्त्वात् लक्षणा न स्यात्। ननु क्रोशनस्य क्रियायाश्चेतनकर्तृकत्वेन क्रोशनकाले मञ्चस्थपुरुषाणः मञ्चेन साक व्याप्यव्यापकभावोऽस्त्यवेति चेद् अनुमानेनैव प्रतीतिसिद्धौ लक्षणाया व्यर्थत्व स्यात्। आयुर्घृतम् इत्यत्र आयुष्कारण घृतमिति कार्यकारणसम्बन्धसद्भावेन शुद्धा लक्षणा। चतुर्षूक्तोदाहरणेषु रूढ्यभावात् प्रयोजनमाह अत्रेति। गौर्वाहीक इति आरोप्यमाणारोपविषययोरुपादानात् सारोपात्वले ताद्रूप्यप्रतीति प्रयोजनम्। गौरयमित्यारोप्यमाणेनारोपविषये निगीर्णस्वरूपे साध्यवसानोदाहरणे अभेदप्रतीतिश्च प्रयोजनम्। एवमायुर्घृतमित्यत्रोभयोपा-

दानात् सारोपोदाहरणे दुग्धाद्यपेक्षया वैसादृश्येन प्रतीतिः। आयुरेवेदमिति साध्यवसानोदाहरणे नियमेनायुर्जनकत्वप्रतीतिः प्रयोजनम्। सम्बन्धान्तरे शुद्ध लक्षणेत्युक्ते तत्र सम्बन्धान्तराण्याह—क्वचित्तादर्थ्यादुपचार इत्यादि। तथा च उपादानलक्षणा, लक्षणलक्षणा, सारोपा, साध्यवसाना, शुद्धा, गौणीत्युक्तभेदेन षड्विधा लक्षणा। इति।

प्र० ८—'गौरनुबन्ध्यः' इत्यादिकं जातिशक्तिवादिनो मीमांसका उपादानलक्षणामुदाहरन्ति। काव्यप्रकाशे तन्निरासः कृतः। तथा च 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुंक्ते' इत्यत्रापि तैरुपादानलक्षणैव स्वीकृता। तदेतदुभयं प्रकाशकारोक्तरीत्या सोपपत्तिकं निराकरणीयम्।

उ० ८—मण्डनमिश्राः 'गौरनुबन्ध्यः' इत्यादिकमुपादानलक्षणाया उदाहरणमाहुः। अनुबन्ध्यः आलम्भ्यः हन्तव्य इत्यर्थः। गौरनुबन्ध्योऽजोऽग्निषोमीयः' इत्यादि श्रुतौ विदं वचनम्। मीमांसकानां मते जातौ शक्तिः। गौरनुबन्ध्य इत्यत्र गोत्वस्य जातेः श्रुतिविहितानुबन्धनक्रिया कथं सम्भवेदिति जातेरनुबन्ध्यामहत्वात् शक्तेश्च 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे' इति न्यायेन गोत्वबोधनेन विरतत्वात्, व्यक्तिं विना जातेरनुपपन्नत्वाच्च जात्या व्यक्तिर्लक्ष्यते। ततश्च गोत्वरूपमुख्यार्थमादायैव गोव्यक्तिर्लक्ष्यते इत्युपादानलक्षणेयम् इति वदन्ति। तदेतदपेशलम्। लक्षणाकारणस्य रूढेः प्रयोजनस्यात्राभावात्। न ह्यत्र प्रयोजनं किञ्चिदस्ति। रूढिर्वा काचित्। येन लक्षणाया अवसरः। ननु तर्हि भवन्मतेऽपि व्यक्तेः प्रतीतिः कथमिति चेदाक्षेपादेवेति वदामः। आक्षेपोऽत्रानुमानम् न तु लक्षणा। व्यक्तिं विना जातेरनुपपन्नत्वादित्यविनाभावेन व्याप्तिर्दर्शिता। वृत्तिप्रयोज्योपस्थितिः शाब्दादौ कारणम्। यथा च व्यक्तेरीदृशाक्षेपेण प्रतीतिस्तदुदाहरणद्वारा स्फुटीकरोति। यथा 'क्रियताम्' इत्यत्र कर्ता (कृतिः साश्रया गुणत्वादित्यनुमानेन कर्तुर्लाभः), कुर्वित्यत्र कर्म (कृतिः सविषया कृतित्वादित्यनुमानेन कर्मलाभः) अथवा तत्राद्यस्थले कर्मणः, द्वितीये कर्तुः लकारेणाभिधानात् कर्तृकर्मणोरेवाक्षेपात्प्रतीतिरिति। उक्तरीत्या गुरोर्मते अर्थाक्षेपे दृष्टान्तमुक्त्वा भट्टमते शब्दाक्षेपे दृष्टान्तमाह—'प्रविश' इत्यत्र 'गृहम्' इति कर्मपदं, 'पिण्डीम्' इत्यत्र 'भक्षय' इति क्रियापदम् यथाऽऽक्षिप्यते तथैव जात्या व्यक्तिः ... इति।

अपरे तु 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यादौ रात्रिभोजनं लक्ष्यते तत्र भोजनाभावसमानाधिकरणपीनत्वमुक्तोत्कर्षस्य प्रतीतेः प्रयोजनस्य सत्त्वात्, तत्र दिवाभोजनरूपमुख्यार्थमादायैव लक्ष्यं रात्रिभोजनं प्रतीयते इत्युपादानलक्षणेत्याहुः। तन्न। 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इति प्रत्यक्षस्थलेऽपि दिवाभोजनाभाववत् पीनत्वं रात्रिभोजनं विनाऽनुपपन्नमित्यनुपपत्त्या रात्रिभोजनप्रतीतेः। तथा चात्र पक्षाभावाल्लक्षणाया वक्तुमशक्यतया दृष्टार्थापत्त्येव श्रुतस्थले अर्थापत्त्यैव कार्यनिर्वाहे लक्षणाया व्यर्थत्वात्। यत्रानुपपद्यमानः शब्दः शब्दान्तरं कल्पयति सा श्रुतार्थापत्तिः। यथा 'द्वारमिति शब्दः 'पिधेहि' इति क्रियापदम्। यत्र च दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽनुपपन्नोऽर्थान्तरं कल्पयति सा अर्थापत्तिरिति, स्थलेऽत्र मतभेदेनोभयमपि सम्भवति।

प्र० १—'अनयोर्लक्ष्यस्य लक्षकस्य च न भेदरूपं ताटस्थ्यम्। तटादीनां गङ्गादिशब्दैः प्रतिपादने तत्त्वप्रतिपत्तौ हि प्रतिपिपादयिषित प्रयोजनसम्प्रत्ययः। गङ्गासम्बन्धमात्रप्रतीतौ तु 'गङ्गातटे घोष' इति मुख्यशब्दाभिधानाल्लक्षणाया को भेदः'। इतीयं पङ्क्तिः प्रकाशग्रन्थाशयं विशदीकुर्वता भवता समीचीनतया व्याख्येया।

उ० १—'गङ्गायां घोष' इत्यत्र तटस्य घोषाधिकरणत्वसिद्धये गङ्गाशब्दः स्वार्थं प्रवाहरूपं समर्पयतीति सैषा लक्षितलक्षणा। तन्मूलञ्च शैत्यपावनत्वातिशयप्रतीतिः प्रयोजनम्। इत्थमुभयरूपा उपादानलक्षणा लक्षणलक्षणा चेति शुद्धैव। तत्र सादृश्यसम्बन्धमूला लक्षणा गौणी, तादितरसम्बन्धमूला शुद्धा। 'गङ्गायां घोष' इत्यत्र प्रवाहतीरयोः परस्परव्यावृत्तधर्मप्रकारकबोधविषयताटस्थ्यमौदासीन्यमिति मुकुलभट्टाः। ते तु 'गौर्वाहीक' इत्यादि गौण्या लक्षणाया शक्यार्थलक्ष्यार्थयोः सादृश्यात्यसम्बन्धेनाभेदप्रतीतिरस्ति। शुद्धायां तु वाच्यार्थलक्ष्यार्थयोर्भेदः प्रतीयते तदेवौदासीन्यापरपर्यायं भेदप्रतीतिरूपं ताटस्थ्यं शुद्धाया गौणीतो भेदकम्। न तूपचारमिश्रणमित्याहुः। तदेव निराकर्तुमाहानयोर्लक्ष्यस्य तटस्य लक्षकस्य प्रवाहस्य न परस्परव्यावर्त्तकरूपं ताटस्थ्यमिति 'गङ्गायां घोष' इत्यत्र प्रवाहत्वेन तीरस्योपस्थितिर्भवति। न तु प्रवाहत्वेन प्रवाहस्य तीरत्वेन तीरस्योपस्थितिः। तथा सति विशकलितयोरनयोर्भेदरूपं ताटस्थ्यं स्यात्। अतः शक्यतावच्छेदकप्रकारकलक्ष्यविशेष्यक एव बोधो भवति। ननु तीरे

प्रवाहत्वं बाधितं तत्कथमुच्यते प्रवाहत्वेन तीरस्योपस्थितिरिति चेन्न । समवायसम्बन्धेन तीरे प्रवाहस्य बाधितत्वेऽपि स्वप्रकारकारोपविशेष्यत्वसम्बन्धेन तत्स्थितौ बाधाभावात् । तीरादीनां गङ्गादिशब्दैः प्रतिपादने तत्त्वेन प्रवाहत्वेन प्रतिपत्तौ तीरस्योपस्थितौ शैत्यपावनत्वादेर्लाभः प्रतिपिपादयिषितप्रयोजनसम्प्रत्ययः । गङ्गासम्बन्धमात्रप्रतीतौ गङ्गातटे घोष इत्याद्युच्यमानेऽभिधयैव तीरादेरुपस्थितिरिति प्रयोजनस्य शैत्यपावनत्वादेर्न प्रतीतिरिति लक्षणाया भेदः ।

प्र० १०—विशदं व्याख्यायन्तां निम्नोल्लिखितपङ्क्तयः । 'अत्र हि स्वार्थसहचारिणो गुणा जाड्यमान्द्यादयो लक्ष्यमाणा अपि गोशब्दस्य परार्थाभिधाने प्रवृत्तिनिमित्तत्वमुपयान्ति इति केचित् । स्वार्थसहचारिगुणाभेदेन परार्थगता गुणा एव लक्ष्यन्ते न तु परार्थोऽभिधीयते इत्यन्ये । साधारणगुणाश्रयत्वेन परार्थ एव लक्ष्यते इत्यपरे' । इति ।

उ० १०—'अत्र'-शब्देन 'गौर्वाहीकः' इत्यत्रेति बोध्यम् । स्वार्थे यादि । अत्र मुख्यार्थस्य गोत्वस्य वाहीके बाधितत्वात् तत्सहचारिणो गुणा जाड्यमान्द्यादयो लक्ष्यमाणा वाहीकार्थाभिधाने प्रवृत्तिनिमित्तीभवन्ति । शक्यतावच्छेदकत्वं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । ततश्च जडो वाहीक इति केचिदाहुस्तदसम्यक् । तथा हि गोशब्देन तावत् किंगता गुणा लक्ष्यन्ते? गोगता वाहीकगता वा? गोगतत्वे हि बाधः प्रसज्येत । न हि गोगता गुणा वाहीके सम्भवन्ति । अथ वाहीकगतास्तत्सामान्याधिकरण्यं न सङ्गच्छेत । नहि गुणाभिन्नत्वं वाहीकस्यास्ति तयोर्गुणगुणिनोः समवायस्य स्वीकृतत्वात् । अन्यद् पृच्छ्यते—गोशब्दाद्वाहीकार्थः प्रतीयते न वा । प्रतीयते चेद्वाहीको वाहीक इति घटो घट इतिवदभेदान्वयानुपपत्तिः । उद्देश्यविधेययोर्भेद एवाभेदान्वयस्य नियमात् । अथ न प्रतीयते इति यदुच्यते तदा पृच्छाम । किं तर्हि गोशब्देन प्रतीयते? स्वगतगुणा न सम्भवन्ति सामान्याधिकरण्यानुपपत्तेः । अथ यदा स्वगतजाड्यवृत्तिजाड्यत्वजाड्यपर्यन्तं लक्षणा क्रियते तदा सैवानुपपत्तिः तदपि न सम्यक् । इदं पुनरत्र तत्त्वम् । गोशब्देन साधारणलक्ष्यतावच्छेदकं जाड्यमान्द्यादिकमाश्रित्य वाहीको लक्ष्यते । साधारण्यं गोवाहीकोभयगतजाड्यगतजाड्यत्वसत्त्वेन । गोशब्दस्य गोगतजाड्यवृत्तिजाड्यत्वावच्छिन्नवाहीकगतजाड्यवति लक्षणा । ततश्च तयोरभेदान्वयेन जडो वाहीक इति बोधः । तदेवाह—साधारणगुणाश्रयत्वेन परार्थ एव प्रतीयते इत्यन्ये । तदुक्तमन्यत्र—

'अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते। लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता' इति। लक्ष्यमाणा जाड्यमान्द्याद्यो गुणास्तैर्योगे शक्यसम्बन्धे सति गौणी लक्षणेति तदर्थः। अत्र चाविनाभावः सम्बन्धमात्रम्। न तु व्याप्तिः। 'गङ्गायां घोष' इत्यादौ प्रवाहतीरयोर्व्याप्त्यभावेऽपि 'मञ्चाः क्रोशन्ती'त्यादौ तदभावात् न खलु मञ्चानां तत्स्थपुरुषैर्नाविनाभावः। किञ्च तयोरविनाभावे ह्याक्षेपेणैव तत्प्रतीतेर्न तत्र लक्षणोपयोगः।

प्र० ११—'तत्र व्यापारो व्यञ्जनात्मकः' इति कारिकांशेन लक्षणा मूलव्यञ्जनाव्यापारं प्रस्तुत्य ग्रन्थकृता यदुक्तं 'विशेषाः स्युस्तु लक्षिते' तदादौ ये विशेषाः पावनत्वादयस्ते चाभिधातात्पर्यलक्षणाभ्यो व्यापारान्तरेण गम्याः। तच्च व्यञ्जनध्वननद्योतनादिशब्दवाच्यमवश्य-मेषितव्यम्। इत्येतद् ग्रन्थकृत्प्रतिपादनं तदुक्तसरण्यैव शङ्कासमाधा-नपूर्वकं सम्यग्विविच्यताम्।

उ० ११—तत्र लाक्षणिके शब्दे प्रयोजनप्रतीतिसमर्थो व्यञ्जनात्मको व्यापारः। ननु लक्षणयैव प्रतीतिर्भविष्यति किमिति व्यञ्जना स्वीक्रियत इत्यत आह— यस्य प्रतीतिमिति। यस्य शैत्यपावनत्वादेः प्रतीतिमाधातुं जनयितुं लक्षणा स्वीक्रियते 'गङ्गायां घोष' इत्येवरूपो लाक्षणिकः प्रयोगः क्रियते तत्र लाक्षणिक-शब्दैकगम्य गङ्गाशब्दान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वादिति भावः। शैत्यपावनत्वादि-रूपे फले व्यञ्जनादपरा क्रिया व्यापारो नास्त्यर्थः। तथाहि नाभिधाव्यापारो वक्तुं शक्यः, समयाभावात्। समयः सङ्केतः। 'गङ्गायां घोष' इत्यादौ गङ्गादिपदानां शैत्यपावनत्वादौ सङ्केताभावात् सङ्केतितार्थे एवाभिधाया प्रसरात्। नापि लक्षणाव्यापारः। लक्षणाहेतूनां मुख्यार्थबाधादीनामभावात्। तदेवाह—हेतुं मुख्यमित्यादिना। तीररूपोऽर्थो गङ्गापदवाच्यो नास्ति। न वा तीरे घोषाधार-त्वादेर्बाधः। नापि पावनत्वादिना तीरस्य सम्बन्धः प्रयोजनान्तरं वा, किञ्च गङ्गाशब्दस्तीरमिव पावनत्वादिकं बोधयितुं नार्हति इति न। वाच्यार्थस्य बाधे सति इतरार्थप्रतीतेर्वक्तुं शक्यः बाधः चात्र तथा शब्दः स्खलद्गतिः। स्खलन्ती गतिर्यस्य एवंभूतः। बाधग्रहः एव नास्तीति तात्पर्यम्। किञ्च लक्षणायां कथञ्चित् स्वीक्रियमाणायामपि तत्र रूढ्यभावात् प्रयोजनान्तरं वक्तव्यम्। तस्यापि प्रयो-जनान्तरमित्यनवस्था स्यात्। ननु मास्तु प्रयोजनमात्रे लक्षणा। पावनत्वादिवि-

शिष्टे तीरे लक्षणायां नोक्तदोषः। न च तत्र प्रयोजनाभाव इति वाच्यम्। 'गङ्गायास्तटे घोषः' इत्यतोऽधिकार्थप्रतीतिरेव प्रयोजनत्वादत आह—प्रयोजनेनेति। प्रयोजनविशिष्टे तीरे लक्षणा न सम्भवति, कुतः? इत्याह ज्ञानस्येति। अयं भावः। कार्यकारणयोः पौर्वापर्यस्य व्यवस्थितत्वेन 'नीलो घट' इत्यादौ घटविषयकप्रत्यक्षोत्तरं (ज्ञातो घट इति) विषये ज्ञाततोत्पत्तिरूपं फलं भवतीति भाट्टाः। सैव प्रकटता नाम। घटविषयकज्ञानवानहमित्याकारकानुव्यवसायापरपर्याया संवित्तिरेव फलमिति मुरारिमिश्रमतानुयायिनः। एवञ्च तीरोपस्थित्युत्तरभाविन्याः शैत्यपावनत्वादिप्रतीतेः समानकालिकत्वं न सम्भवतीति न प्रयोजनविशिष्टे लक्षणा वक्तुं शक्यते, तदाह विशिष्टे लक्षणा नैवमिति। तटादौ लक्षिते सति पावनत्वादयो विशेषाः प्रतीयन्ते तत्प्रतीतिकरणीभूतो व्यापारो व्यञ्जनध्वननद्योतनादिशब्दवाच्यः अवश्यं स्वीकार्यः।

प्र० १२—व्याख्यायतामियं कारिका—

यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया।

उ० १२—व्यञ्जनानिरूपणावसरे सा व्यञ्जना द्विधा-शब्दनिष्ठा अर्थनिष्ठा चेति वक्ष्यते। तत्र शब्दनिष्ठा पुनरपि द्विधा 'अभिधामूला लक्षणामूला च। तत्र यद्यप्यभिधायाः प्राथम्यादुपजीव्यत्वाच्च तन्मूला प्रथमं निरूपयितुमुचिता तथापि सुप्रसिद्धत्वाल्लक्षणायाः प्रकृतत्वाच्च तन्मूलामेव प्रथमं निरूपयति 'तत्र व्यापारो व्यञ्जनात्मकः' इति। तत्र लाक्षणिकशब्दे व्यापारो व्यञ्जनाप्रकाशानुकूलः। लक्षणादिभिरेव तत्प्रतीतौ किं तयेत्यत आह—यस्य प्रतीतिमिति। अनया कारिकयाऽर्थापत्तिरूपप्रमाणं प्रदर्शितं भवति। अत्र 'लक्षणा' इति पदं लक्षणया लाक्षणिकशब्दपरम्। यस्य शैत्यपावनत्वादिरूपफलस्य प्रतीतिं अनुभवरूपामाधातुं जनयितुं लक्षणा लाक्षणिकः शब्दः समुपास्यते आश्रीयते। सत्यपि वाचकशब्दे ('गङ्गायां घोषः' इत्यत्र) तं विहायाद्रियते। शब्दैकगम्ये लाक्षणिकशब्दमात्रगम्ये (न त्वनुमानादिगम्ये) अत्र तस्मिन्फले (नान्यतस्तत्प्रतीतिरपि तु तस्मादेव शब्दात्) शैत्यपावनत्वादिप्रयोजनविषये व्यञ्जनाद् व्यञ्जनं विना व्यञ्जनं विहाय अपरा क्रिया अन्यो व्यापारो न इत्यर्थः। किन्तु व्यञ्जनात्मक एव व्यापार इति भावः। एवं लाक्षणिके शब्दे प्रयोजनबोधक्षमो व्यञ्जनाभिधो व्यापारः।

ननु लक्षणयैव प्रयोजनोपस्थितिनिर्वाहेऽलं व्यञ्जनयेत्याह—यस्य प्रतीतिमाधातुमिति। केवलं तन्मात्रं यदि प्रतिपिपादयिषितं तर्हि 'गङ्गातटे घोषः' इत्येव वाच्यम्। अतस्तस्य प्रयोजनान्तरं वक्तव्यम्। तत् सिद्धये एव लाक्षणिकशब्दप्रयोगः। सा च प्रयोजनसिद्धिः गङ्गाशब्दे सत्येव भवति, नान्यथा। अतः शब्दनिष्ठो व्यञ्जनाभिधो व्यापारः तत्प्रतीतये स्वीक्रियते। यतस्तस्य व्यापारान्तरेण प्रतीतिर्भवितुं न शक्या इति।

प्र० १३—'हेत्वभावान्न लक्षणा' इत्यस्य क आशयः।

उ० १३—'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र गङ्गाशब्दस्य लाक्षणिकप्रयोगः शैत्यपावनत्वादिप्रयोजनप्रतिपत्तये कृतः। तत्र व्यञ्जनामृते नान्यो व्यापारस्तत्प्रतीतिमाधातुं प्रभवति। तथा हि नाभिधा समयाभावात्। समयः संकेतः। अभिधा संकेतसहायैवोपयुज्यते। 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ गङ्गादिपदानां शैत्यपावनत्वादौ संकेताभावात् संकेतितार्थे एवाभिधायाः प्रसरात्। नापि लक्षणाव्यापारः। अत उक्तम् 'हेत्वभावान्न लक्षणे'ति। लक्षणायाः किल मुख्यार्थबाधः तद्योगः रूढिप्रयोजनान्यतरच्च कारणम्। तदेतन्मुख्यार्थबाधत्रयम्। न ह्यत्र तेषां सत्ता तदेवोपपादयति 'लक्ष्यं न मुख्यम्' इति कारिकया। तद्यथा—'लक्ष्यं न मुख्यं, नाप्यत्र बाधो, योगः फलेन नो। न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः' इति। 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र गङ्गाशब्दस्य प्रवाहो मुख्योऽर्थः। तद्बाधस्तीरसम्बन्धश्च। तीरस्य लक्षणयोपस्थाने मुख्यशब्देन प्रतिपादयितुं शक्यस्य शैत्यपावनत्वादेः प्रतीतिः प्रयोजनमिति गङ्गाशब्देन यथा तटं लक्ष्यते तद्वद्यदि तटं मुख्यं स्यात् तस्यात्र बाधः प्रयोजनस्य च शैत्यादेस्तटेन सम्बन्धः स्यात्, तस्य च प्रयोजनान्तरं च किञ्चिन्निवेद्य गङ्गाशब्दः प्रयोजनं लक्षयेत्। न ह्यत्र तटं मुख्योऽर्थः। नापि तत्र बाधः। तटे घोषाधारत्वस्य सत्त्वात्। न च गङ्गाशब्दार्थस्य तटस्य पावनीयत्वाद्यैर्लक्षणीयैर्धर्मैः सम्बन्धः (योगः फलेन नो) तत्र तेषामभावात्। नापि प्रयोजनान्तरं येन लक्षणा स्यात्। किञ्च गङ्गाशब्दो न तटमिव प्रयोजनं प्रतिपादयितुमसमर्थः। वाच्यार्थस्य बाधे सति इतरार्थप्रतीतेर्वक्तुं शक्यत्वाच्चात्र तथा शब्दः स्खलद्गतिः। स्खलन्ती गतिर्यस्य। एवंभूतः। बाधग्रह एव नास्तीति तात्पर्यम्।

प्र० १४—समुपपाद्यताम् 'एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षयकारिणी' इति कारिकांशः।

उ० १४—प्रयोजनस्य लक्ष्यत्वमेव नास्तीति 'हेत्वभावान्न लक्षणे'त्यादिना प्रतिपादितम्। किञ्च लक्षणाया कथञ्चित् स्वीक्रियमाणाया तत्र रूढ्यभावात्प्रयोजनान्तरं वक्तव्यम्, तस्य पुन प्रयोजनान्तरमिति अनवस्था स्यात्। बीजाङ्कुरन्यायेन अनवस्था न दोषायेत्याशङ्कयाह 'या मूलक्षयकारिणी मूलक्षतिकारिणी वे ति प्रयोजनपरम्पराया लक्षणास्वीकारे प्रयोजनान्वेषणस्यापर्यवसानेन प्रस्तुतस्य पावनत्वादेस्तीरादेर्वा बोधानुदयप्रसङ्ग। 'मूलक्षतिकरीं चाहुरनवस्था च दूषणम्' इति बीजाङ्कुरवदनवस्था न दूषणमित्यपास्तम्।

प्र० १५—'प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते' इत्यस्य कोऽर्थः।

उ० १५—ननु न केवल प्रयोजन लक्ष्यते किन्तु प्रयोजनसहित तटादि, इत्यतो नोक्तदोषप्रसङ्ग। अत आह—पावनत्वादिधर्मयुक्तमेव तट लक्ष्यते। 'गङ्गायास्तटे घोष' इत्यतोऽधिकस्यार्थस्य प्रतीतिश्च प्रयोजनमिति, इति शीतपावनादिविशिष्टे तटे लक्षणा, तर्हि किं व्यञ्जनयेति। ननु शैत्यपावनत्वादियुक्तमेव तट गङ्गाशब्देन लक्ष्यते तर्हि किं व्यञ्जनया? न चात्र प्रयोजनाभाव इति वाच्यम्। गङ्गातटे घोष इत्यतोऽधिकार्थप्रतीतिरेव तत्प्रयोजनत्वादित्यत आह—प्रयोजनेन सहितेति। अत्र लक्षणीय लक्षणाजन्यज्ञानविषय (तटम्), प्रयोजनेन प्रयोजनीभूतज्ञानविषयेण (पावनत्वादिना) सहित न युज्यते इत्यन्वय। कुत इत्याह—ज्ञानस्येति। अयमर्थ। कारणकार्ययो पौर्वापर्यं वर्त्तते। प्रत्यक्षादेर्नीलादिर्विषय। तत्फलञ्च विषये ज्ञाततोत्पत्ति। विषयविनाशिस्मृत्युपपत्ते रात्मनि वा नीलविषयकज्ञानवानहमिति अनुव्यवसाय। शैत्यपावनत्वादिप्रतीतिश्च तीरोपस्थित्युत्तरभाविनीति तयो सामानाधिकरण्य न सम्भवतीति।

प्र० १६—व्याख्यायतां सूत्रमिदं 'ज्ञानस्य विषयो ह्यन्य फलमन्य दुदाहृतम्' इति।

उ० १६—अत्र 'हि' शब्द प्रसिद्धार्थकतया दृष्टान्तार्थक। 'अन्य' शब्दो ज्ञानादन्य इत्यर्थक। एवमन्यदित्यपि ज्ञानादन्यदित्यर्थकम्। तथा च यथा विषयो ज्ञानादन्यस्तथा ज्ञानस्य फलमपि ज्ञानादन्यत्। फलफलिनो

समसमयसमुत्पादासम्भवात् । तत्र दृष्टान्तमाह—प्रत्यक्षादेरिति । अक्षमिन्द्रिय प्रति यदुत्पद्यते ज्ञान तत्प्रत्यक्षम् । इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यज्ञानमित्यर्थ । आदिपदेनानुमानादेर्ग्रहणम् । अध्वरमीमांसकमतेनाह—प्रकटतेति । घटज्ञानानन्तर 'ज्ञातो घट' इति प्रत्ययात् तज्ज्ञानेन तस्मिन्घटे ज्ञातताऽपरनाम्नी प्रकटता जायते इति अध्वरमीमांसकमीमांसा । एवञ्च 'ज्ञेयधर्म प्रकटता पूर्वमीमांसकै प्रत्यक्षादिज्ञानस्य फलम् इत्युच्यते' इति भाव । तार्किकमतेनाह—'संवित्ति'रिति । सति च घटज्ञाने 'घटमह जानामि' इति प्रत्ययरूपा अनुव्यवसायापरपर्याया संवित्ति घटज्ञानाज्जायते इति तार्किकतर्क । एवञ्च 'ज्ञातृधर्म संवित्ति तार्किकै मुरारिमिश्रादिभि प्रत्यक्षादिज्ञानस्य फलमित्युच्यते' इति भाव । तथा च एतयो (प्रत्यक्षस्य) विषयफलयो प्रत्यक्षादिज्ञानस्य यथा सुव्यक्त तथा लक्षणाजन्यज्ञानात् तत्फलस्य पावनत्वादिज्ञानस्यान्यत्वमवश्यमपितव्यमिति भाव । यथा करणत्वेन ज्ञानाद् विषयो भिद्यते तथा कार्यत्वेन फलमित्यर्थ । अन्यथा तीरत्वपावनत्वज्ञानयोरभेदे जन्यजनकभावानुपपत्तेरिति । एवञ्च लक्षणाजन्यज्ञानविषयत्वेन तत्फलस्य शैत्यपावनत्वादेर्लक्षणाविषयत्व न युक्तमित्यर्थ ।

प्र० १७—अभिधामूलव्यञ्जना ग्रन्थकारोक्तदिशा प्रतिपाद्यताम् ।

उ० १७—तत्र कारिका—'अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते । संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरञ्जनम्' इति । तथा च 'संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्य विरोधिता । अर्थ प्रकरण लिङ्ग शब्दस्यान्यस्य सन्निधि । सामर्थ्यमौचिती देश कालो व्यक्ति स्वरादय । शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतव ' । इत्युक्तदिशाऽग्रे व्याख्यानाय प्रक्रमते । इत्थ लक्षणामूल व्यञ्जकत्वमुक्त्वाऽभिधामूलमाह—अनेकेति । अनेके अर्था वाच्यत्वेन यस्य तस्यानेकार्थस्य नानार्थकस्य शब्दस्य वाचकत्वे अभिधाया प्रकरणादिभि नियन्त्रिते एकत्र सीमिते सति अवाच्यार्थ यद्वाभिधया प्रतिपादयितुमशक्य । तद्धीकृत् तत्प्रतीतिहेतु या व्यापृति व्यापार सा अञ्जन व्यञ्जनमित्यर्थ । अय भाव । एकस्य वर्णसमूहात्मक पदस्यानेकत्रानेकैव शक्ति । शक्यतावच्छेदकभेदेन तद्भेदात् । ततश्च यस्मिन्नर्थ तात्पर्यग्राहक प्रकरणादिकमवतरति तद्गोचरशक्त्या तदर्थोपस्थापनम् । अन्यस्याश्च विरोधानम् । तया निरुद्धतयाऽभिधया बोधयितुमशक्यार्थस्य बोधने प्रभवन्ती वृत्तिर्व्यञ्जना नाम । इयञ्चाभिधामूला शाब्दी व्यञ्जनेत्युच्यते इति बोध्यम् । ननु श्लेषपदाभिधात एव

द्वितीयार्थग्रहः स्यादिति शङ्कानिवारणायोक्तं वाचकत्वे नियन्त्रिते इति। 'न च संयोगादिनाऽभिधावद् व्यञ्जनापि नियन्त्र्यतामिति वाच्यम्। संयोगादिकमतिक्रम्य बोधकत्वेन तत्सिद्धेः।

संयोगादीनां वाचकत्वनियामकत्वे भर्तृहरिसम्मतिमाह—'संयोग' इत्यादिना। संयोगः प्रसिद्धसम्बन्धः। विप्रयोगो विभागः। साहचर्यं संभूयावस्थानम्। सादृश्यं वा। विरोधिता सहानवस्थानम्। अर्थः प्रयोजनम्। प्रकरणं वक्तृश्रोतृबुद्धिस्थता। लिङ्गं संयोगातिरिक्तसम्बन्धेन परपक्षव्यावृत्तो धर्मः असाधारणो धर्मो वा। व्यक्तिलिङ्गं पुंस्त्वादि। सामर्थ्यं कारणता। औचिती योग्यता। देशकालौ तद्विशेषौ। स्वरः उदात्तादिः। एवमेतैः शब्दवाच्यार्थस्यानवच्छेदे कतमोऽर्थोऽत्र विवक्षित इति संदेहे सति विशेषस्मृतिहेतवः विशेषस्य विवक्षितार्थस्य या स्मृतिर्ज्ञानं तद्धेतवः तज्जनका भवन्तीत्यर्थः।

तत्र संयोगः प्रसिद्धार्थस्य गुणविशेषरूपः सम्बन्धस्तेनाभिधानियमनं यथा 'सशङ्खचक्रो' हरिरित्यत्र शङ्खादिसंयोगेनानेकार्थस्य हरिशब्दस्याच्युतेऽभिधा नियम्यते। अन्यहरिपदार्थे तत्संयोगाभावात्। विप्रयोगस्तावत्तत्सम्बन्धध्वंसः तेन यथा 'अशङ्खचक्रो' हरिरित्युच्यते। सम्बन्धस्य प्रतियोगिपूर्वकत्वात्। साहचर्यं सहचरता तेन यथा रामलक्ष्मणाविति रामपदस्य लक्ष्मणसाहचर्येण दाशरथौ। विरोधः सहानवस्थानं वध्यघातकभावश्च यथा रामार्जुनगतिस्तयोरिति रामार्जुनपदयोः भार्गवकार्तवीर्ययोः। अर्थः प्रयोजनम् तेन यथा 'स्थाणुं भज भवच्छिदे' इत्यत्र भवच्छेदनरूपप्रयोजनवशात् स्थाणुशब्दस्य हरे। प्रकरणं वक्तृश्रोतृबुद्धिस्थता, तेन यथा 'सर्वं जानाति देव' इत्यत्र देवशब्दस्य राजनि। यत्तु 'युष्मदर्थे' इति व्याख्या तस्या अपि प्रकृते राजादावित्यर्थः। किंवा सम्बोध्ये राजादावित्यर्थः। लिङ्गं संयोगातिरिक्तसम्बन्धेन परपक्षव्यावृत्तो धर्मः। तेन यथा 'कुपितो मकरध्वजः' इत्यत्र मकराकारध्वजसमुद्राभ्यां व्यावृत्तेन समवायसम्बन्धवता कोपेन मकरध्वजशब्दस्य कामे, यत्तु लिङ्गं चिह्नमिति तन्न कोपस्य कामचिह्नत्वाभावात्। असाधारणधर्मस्य चिह्नत्वात्। सशङ्खचक्र इत्यत्रातिव्याप्तिप्रसङ्गाच्च। शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः। नियतार्थकशब्दान्तरसामानाधिकरण्यम्। अतो भवच्छिदे इत्यादावप्रसङ्गः। न च सशङ्खचक्रो हरिरित्यत्रातिव्याप्तिः। शङ्खचक्रशब्दसामानाधिकरण्याभावात्। यद्वा हरौ शङ्खचक्रे सति संयोगादोहरणे तात्पर्यम्। तेन यथा 'देवस्य त्रिपुराराते'रित्यत्र त्रिपुरारातिशब्दसामानाधिकरण्याद् देवशब्दस्य शम्भुरूपेऽ-

मरे, अन्यस्य देवशब्दार्थस्य राजस्त्रिपुराराতित्वाभावात्। यत्तु देवतान्तरस्या तथाभावाच्छक्तिनियमन शम्भाविति तन्न युक्तम्। देवतान्तरे देवशब्दस्य शक्ति भेदाभावाद् उदाहरणासामञ्जस्यापत्ते। सामर्थ्यं कारणत्वम्। तेन यथा 'मधुना मत्त कोकिल' इति। अत्र मधुशब्दस्य वसन्ते। अन्यस्य मधुशब्दार्थस्य कोकिल मादनासामर्थ्यात्। औचिती अर्हता तया यथा–'पातु वो दयितामुखम्' इति। अत्रोत्कण्ठितमनोरथसाधनौचित्येन 'मुख' शब्दस्य साम्मुख्य न तूपायादौ। यद्य प्यत्रापि सामर्थ्यं सम्भवत्येव तथापि मधुनेत्यत्र तृतीययेव तद्बोधाभावेऽपि औचि तीमात्रज्ञानादेव शक्तिनियमनसङ्कीर्णम् इति। देशेन यथा 'भात्यत्र परमेश्वर' इति। अत्रेति राजधानीरूपात् देशात् परमेश्वरपदस्य राजनि। कालेन यथा–'चित्रभानु र्विभाति' इति। अत्र चित्रभानुपदस्य दिवा दिवाकरे, रजन्यामाशुशुक्षणौ वह्नौ वा। व्यक्तिर्लिङ्ग पुस्त्वादिस्तया यथा 'मित्र भातीति' अत्र नपुंसकलिङ्गात् मित्रपदस्य सुहृदि। 'मित्रो भाती'त्यत्र पुल्लिङ्गात्सूर्ये। स्वरस्तूदात्तादिर्वेदे बाहुल्येनार्थप्रती तिकृद् दृश्यते। यथा 'इन्द्रशत्रो वर्धस्व' इति। अत्र 'इन्द्रशत्रो' इत्यस्यान्तो दात्त वे षष्ठीतत्पुरुषव्यक्तौ इन्द्रस्य शातनकर्मत्व लक्ष्यते। पूर्वपदान्तोदात्ताद्बहु व्रीहौ च 'इन्द्र शातयिता यस्य' इति इन्द्रस्य शातनकर्तृत्व लक्ष्यते। काव्ये तु नैव बाहुल्यम्। काव्येषूदात्तादीनां नार्थविशेषनियामकता। अत एवोक्त–'काव्यमार्गे स्वरो न गण्यते' इति। अत्र स्वरपदेनोदात्तानुदात्तस्वरितात्रय। ननु काव्येऽपि स्वरो विशेषप्रतीतिकृद्दृस्त्येव। यथा 'मध्नामि कौरवशतम्' इत्यादौ काकुस्वरादिना विशेषार्थावगतेरिष्टत्वात्। अतोऽत्र स्वरशब्देनोदात्तादेरेव विवक्षितत्वात्। यद्वा अभिधानियामको स्वर वेदे एवानुशासनात् न तु काव्ये। 'स्वरादय' इत्यादि ग्रहणादभिनयापदेशौ गृह्येते। अन्ये योक्तान्तर्भूता। अभिनयश्च साक्षाद्विवार्था चारादिप्रदर्शिका हस्तादिक्रिया तया यथा 'एद्दहमेत्त॰' इति प्राकृत पद्यम्। अस्य छाया—'एतावन्मात्रास्तनिका एतावन्मात्राभ्यामक्षिपत्राभ्याम्। एतावन्मा त्रावस्था एतावन्मात्रैर्दिवसै' इति। अत्र विकसितमुकुलिताभिनयविशेषा स्तनस्य पीनत्वमुकुलितात्वर्यविशेषेऽभिधा नियम्यते। एव विशेषपादत्रयेऽपि अपदेशोऽभिमतनिर्देश तेन यथा। 'इत स दैत्य प्राप्तश्रीर्नेत एवार्हति क्षयम्। विषवृक्षोऽपि सवर्ध्य स्वय छेत्तुमसाम्प्रतम्'। अत्रापदेशेनेद शब्दस्याभिधा वक्तरि नियम्यते। इत्य सयोगादिनाऽर्थान्तराभिधायकत्वे निवारितेऽपि यत्र क्वचिदनेकार्थ शब्देनार्थान्तरप्रतिपादनम् तत्र नाभिधा, एकत्रार्थे तस्या नियतत्वात्। नापि लक्षणा,

मुख्यार्थबाधाद्यभावात् । किं त्वञ्जन व्यञ्जनमेव व्यापार । तस्य च शब्दान्वय व्यतिरेकाभ्यां शाब्दत्वमिति उपरिष्टात्प्रतिपादितम् । 'भद्रात्मन' इत्यभिधामूल-व्यञ्जनाया उदाहरणम् । अत्र प्रकरणाद्राजरूपार्थे नियन्त्रिते द्वितीयगजरूपार्थ प्रतीतिरभिधामूलव्यञ्जनया । तद्युक्तो व्यञ्जनाव्यापारयुक्त शब्दो व्यञ्जक । ननु शब्दमात्रस्य व्यञ्जकत्वे कथं शब्दार्थयुगलस्य काव्यस्य ध्वनित्वमित्यत आह— यद्विति, तथेति । अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र शब्दप्रवृत्तार्थबोधानन्तरमेव व्यङ्ग्यार्थबोधा दर्थस्य सहकारित्वमित्यर्थं ।

इति द्वितीयोल्लास समाप्त ।



अथ तृतीयोल्लासः

प्रश्न १—अर्थव्यञ्जकताप्रतिपादनाय व्याख्यायतां निम्नोल्लिखित-सूत्रवचनम्—

> वक्तृ-बोद्धव्य-काकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधे
> प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात्प्रतिभाजुषाम् ।
> योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥ इति ।

उ० १—पूर्वं शब्दे निरूपिते उपोद्घातेन शब्दव्यञ्जनाया निरूपितायां प्रसङ्गेनार्थव्यञ्जना निरूपणीया। तदेतदाशङ्क्यते शब्दे निरूपितेऽवसरोऽयमर्थनिरूपणस्य । किञ्च, अर्थे धर्मिणि निरूपिते तद्धर्मो व्यञ्जना सुनिरूपा भवति । तदुक्त मनन्तराहृत्य व्यञ्जनानिरूपणमिति। तदेनां शङ्कामपनिनीषुरुक्तं स्मारयति—'अर्था प्रोक्ता पुरा तेषाम्' इति। अर्था वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्या । अर्थस्य सन्निकृष्टतरत्वेऽपि तेषामित्यनेन योग्यतया वाचकादय शब्दा परामृश्यन्ते । शिष्यावधानाय प्रतिजानीते—'अर्थव्यञ्जकतोच्यते' इति । ननु सर्वेषामित्यादिना (सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यञ्जकत्वमपीष्यते' इति कारिकार्धेन यत्पूर्वमुक्तम्) पूर्वमर्थानां व्यञ्जकता प्रोक्तैव । तदन्या कीदृशी सेत्याकाङ्क्षायामाह—वक्तृबोद्धव्येति । य परप्रतिपत्तये वाक्यमुच्चारयति स वक्ता । स च कविस्तन्निबद्धो नायकादिश्च । बोद्धव्य प्रतिपादनीयो जन अन्तर्भावितण्यर्थत्वात् । कायत्यर्थान्तरमिति काकु । 'कै शब्दे' इति धातु । अथवा काकुर्जिह्वा । तद्व्यापारविशेषसम्पाद्यत्वात् शोकभीत्यादिभिर्ध्वनेर्विकार । तथा च साकाङ्क्षाणां पदानां समूहो वाक्यम् । वाक्योऽर्थो वाच्य । अन्यस्य वक्तृबोद्धव्यभिन्नस्य सन्निधि अन्यसन्निधि । वाक्यवाच्याभ्यां सहितेऽन्यसन्निधि वाक्यवाच्यान्यसन्निधि ।तेनेतरेतरद्वन्द्वे एकवद्भावो नपुंसकत्वं न।प्रस्ताव प्रकरणम्।देशो विजनादि ,कालो वसन्तादि ।आदिशब्दग्राह्यश्चेष्टादि ।तेषां वैशिष्ट्याद्वैलक्षण्यात् । तच्च वक्त्रादि प्रत्येकं सम्बध्यते । प्रतिभाजुषाम् प्रतिभा वासना । नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि प्रज्ञा वा । तद्वताम् काव्यवासनापरिपक्वबुद्धीनाम् । सहृदयानामिति यावत् । याऽन्यार्थधी । अन्यो वाच्यलक्ष्यव्यतिरिक्तो योऽर्थ व्यङ्ग्यरूपस्तद्धीस्तत्प्रतीति तद्धेतुर्योऽर्थस्य वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यरूपस्य त्रिविधस्यार्थस्य व्यापारो व्यक्तिरेव । व्यज्यतेऽनयेति करण-

व्युत्पत्त्या व्यञ्जनैवेति सूत्रार्थः। अत्र वैशिष्ट्यादिति पञ्चम्यर्थः सहकारिरूपं हेतुत्वम्। तच्च तदभावे व्यञ्जनानुदयाद्बोध्यम्। एवं वक्त्रादिवैलक्षण्यहेतुका या प्रतिभाशालिनामन्यार्थधीस्तद्धेतुर्व्यापारत्वमस्याः स्वरूपमिति बोध्यम्।

वक्ष्यमाणोदाहरणेषु वैशिष्ट्यविशेषोऽविदग्धानां दुर्ज्ञेय इति सूचयन् वृत्तिकृदाह—क्रमेणोदाहरणानीति। वक्तृवैशिष्ट्याद्वाच्यस्य व्यञ्जकत्वमुदाहरति—'अइपिहुलं' इति प्राकृतपद्येन। अस्य छाया—'अतिपृथुलं जलकुम्भं गृहीत्वा समागताऽस्मि सखि त्वरितम्। श्रमस्वेदसलिलनिःश्वासनिःसहा विश्राम्यामि क्षणम्' इति। जलाहरणवर्त्मनि नदीगहने उपनायकोपभुक्तायाः घर्मजलनिःश्वासाद्युपभोगचिह्नेनोपभोगं सम्भावयन्तीं सखीं सम्बोध्य कस्याश्चिदुक्तिरियम्। अत्र प्रमाणान्तरेणासतीत्वेऽवगते सति व्यभिचारिणी वदतीति वक्तृवैशिष्ट्याद् वाच्यघटितवाक्यार्थस्य चौर्येण कृतं रतं गोपायतीति सामाजिकान् प्रतिभाशालिनः प्रति व्यङ्ग्यमिति भावः। अत्र वक्त्री कामिनी। तस्या दुःशीलत्वस्वरूपवैशिष्ट्यं विजानन्तं चौर्यरतगोपनं व्यक्तीभवति। अत्र शब्दपरिवृत्तिसहत्वादर्थस्यैवेयं वृत्तिः।

बोद्धव्यवैशिष्ट्याद्वाच्यस्य व्यञ्जकत्वमुदाहरति—'ओण्णिद्द' इति पद्येन अस्य छाया—'औन्निद्र्यं दौर्बल्यं चिन्ताऽलसत्वं सनिःश्वसितम्। मम मन्दभागिन्याः कृते सखि त्वामपि अहह परिभवति' इति। कृतस्वकान्तसम्भोगां दूतीं प्रत्युपभोगचिह्नैस्तं सम्भोगं ज्ञातवत्या नायिकाया उक्तिरियम्। अत्र दूती बोद्धव्या। तस्या अन्यदापि दृष्टदुष्टचेष्टायाः वैशिष्ट्येन तस्याः कामुकोपभोगो व्यज्यते।

काकुवैशिष्ट्याद्वाच्यस्य व्यञ्जकत्वमुदाहरति—'तथाभूताम्०' इति वेणीसंहारनाटकस्थपद्येन। तत्र प्रथमाङ्के कुरुनिग्रहाद्यनुद्यमेन युधिष्ठिरमुपालभमानं भीमं प्रति सहदेवस्य 'आर्य, कदाचित् खिद्यते गुरुः' इत्युपालम्भनिषेधपरवाक्यस्योत्तरे 'गुरुः किं खेदमपि जानाति' इत्युपक्रम्य भीमसेनोक्तिरियम्। 'खिद्ये'

[illegible] [illegible] गुरुः सापादनभियोज्यो युधिष्ठिरः। इत्यमगुना कारणेन म्लाने मयि खेदं मात्सर्यं भजति अद्यापि एवंविधदुरवस्थायामपि अथवा [illegible] कुरुषु खेदं मात्सर्यं न भजतीति सोपहासः काका [illegible]। अत्र 'नहि' काकुः। तद्वैशिष्ट्यात् 'मयि न, योग्यं मात्सर्यं, कुरुषु

तु योग्यम्' इति व्यज्यते। ननु पात्रापात्रवैपरीत्येन खेदस्य करणाकरणरूप-वाक्यार्थस्य अयुक्ततयाऽपर्यवसन्नस्य पर्यवसानरूपसिद्धौ व्यङ्ग्योपस्थापनद्वारा काकुरेव प्रभवतीति काकोर्वाच्यसिद्ध्यङ्गत्वे तद्द्वारीभूतस्य व्यङ्ग्यस्यापि तथात्वेन गुणीभूततया गुणीभूतव्यङ्ग्यमिदमुदाहरणं न तु ध्वनिरित्याशङ्क्य निराकरोति-'न च वाच्यसिद्ध्यङ्गमत्र' इत्यादिना वृत्तौ। अत्र नेति प्रश्नकाक्वाऽपि वाक्यार्थप्रतीतिपर्यवसानात्, यां काकुं विना वाक्यार्थबोध एव नोपपद्येत तस्यै-वाक्षिप्तस्य गुणीभावात्। यथा 'मथ्नामि कौरवशतम्' इत्यत्र भीमसेनादिवाक्य-वक्तरि। तदेतदुक्तं 'प्रश्नमात्रेणापि काकोर्विश्रान्तेरि'ति।

वाक्यवैशिष्ट्याद्वाच्यस्य व्यञ्जकत्वमुदाहरति-'तइआ मह' इति प्राकृतपद्येन तस्य छाया—'तदा मम गण्डस्थलनिमग्नां दृष्टिं नानैषीरन्यत्र। इदानीं सैवाहं तौ च कपोलौ न सा दृष्टिः' इति। नायिकाभयान्निकटवर्तिनीमन्यां प्रियतमां साक्षादपहाय नायिकाकपोलगतं तत्प्रतिबिम्बं नायिकामुखावलोकमिषेण सादरं दृष्ट्वा तत्प्रतिबिम्बापगमे तादृशनिरीक्षणनिवृत्तं नायकं प्रति दृष्टिविकारेण ज्ञात-रहस्याया नायिकाया उक्तिरियम्। तथा च वाक्यमनेकं पदम्। तेनात्र तदे-दानीं पदात्मकवाक्यवैशिष्ट्यात् 'मत्सखीं कपोलबिम्बितां पश्यतस्ते दृष्टिरन्यादृशी, चलितायां तु तस्यामन्यादृशीत्यहो प्रच्छन्नकामुकस्य तवे'ति व्यज्यते।

वाच्यवैशिष्ट्याद्वाच्यस्य व्यञ्जकत्वमुदाहरति—'उद्देशोऽयं सरस०' इति पद्यम्। अत्र नर्मदोद्देशरूपस्य तद्विशेषणीभूतवातकुञ्जादिरूपस्य च वाच्यस्य-यथोक्तविशेषणस्य वैशिष्ट्यात् 'सुरतार्थं प्रविशे'ति व्यज्यते।

अन्यसन्निधिवैशिष्ट्याद्वाच्यस्य व्यञ्जकत्वमुदाहरति—'णोल्लइ अणो०' इति प्राकृतं पद्यम्। अस्य छाया—'नुदत्यनार्द्रमनाः श्वश्रूर्मां गृहभरे सकले। क्षणमात्रं यदि सन्ध्यायां भवति न वा भवति विश्राम' इति। गुरुजनसान्निध्येन निषिध्य वक्तुमशक्नुवन्ती काचित् तटस्थतयेव सन्निहितमुपनायकं प्रति सङ्केतकालसूच-नाय प्रतिवेशिनीं सम्बोध्य श्वश्रूपालम्भमाह। अन्यसन्निधिः सन्निहितोऽन्यः तेनाह प्रतिवेशिनीं प्रति प्रवर्तिते वाक्ये प्रच्छन्नपुरुषरूपस्यान्यस्य सन्निधेर्वैशिष्ट्यात् सन्निहितं प्रति सन्ध्या सङ्केतसमय इति व्यज्यते।

प्रकरणरूपप्रस्ताववैशिष्ट्याद् वाच्यस्य व्यञ्जकत्वमुदाहरति—'सुव्वइ समा-गमिस्सदि' इति प्राकृतं पद्यम्। छाया—'श्रूयते समागमिष्यति तव प्रियोऽद्य

प्रहरमात्रेण। एवमेव किमिति तिष्ठसि तत्सखि सज्जय करणीयम्' इति। उपपतिं प्रत्युपसर्तुं प्रस्थिता नायिकां प्रति प्रियप्रत्यागमनवार्ता श्रुतवत्यास्तत्सख्या जनान्तरसन्निधानेऽभिसरणनिवारणोक्तिरियम्। अत्र प्रकरणस्य प्रस्तावस्या भिसारसम्बन्धित्वरूपवैशिष्ट्यादुपपतिं प्रत्यभिसर्तुं न योग्यमिति व्यज्यते।

देशवैशिष्ट्याद्वाच्यस्य व्यञ्जकत्वमुदाहरति—'अन्यत्र यूयं कुसुमाव०' इति पद्येन सखीवेषधारिणा स्वोपनायकेन सहागतां प्रियसखीं दृष्ट्वा सखीं प्रति नायिकाया उक्तिरियम्। अत्र देशस्यातिविविक्तत्वादिरूपवैशिष्ट्याद् वक्तृवैशिष्ट्यादिसहितात्तस्या 'मत्प्रच्छन्नकामुको युष्माभिः प्रहेयः' इति प्रियसखीं प्रति व्यज्यते। अत्र कुसुमावचायमुदिश्यान्यदेशाधिकरणकत्वस्य विधेयत्वेन प्राधान्याद्देशवैलक्षण्यादेव व्यञ्जकत्वम्। 'उद्देशोऽयं' इत्युदाहरणे तु देशस्य विशेषणत्वेनाप्राधान्यात्प्रधानीभूतवाच्यस्यैव वैलक्षण्याद्व्यञ्जकत्वमिति भेदः।

कालवैशिष्ट्याद्वाच्यस्य व्यञ्जकत्वमुदाहरति—'गुरुअणपरवस०' इति प्राकृतपद्यस्य छाया—'गुरुजनपरवश प्रिय किं भणामि तव मन्दभागिनी अहकम्। अथ प्रवासं व्रजसि व्रज स्वयमेव श्रोष्यसि करणीयम्' इति। अत्र 'अद्य' पदप्रतिपाद्य मधुसमयवैशिष्ट्याद् वक्तृत्वस्याविशेषसहितोदितादिवार्तां यदि व्रजसि तदा अहं तावन्न जीवामि, तव तु न जानामि गतिमिति प्रियं प्रत्युत्तरस्या व्यज्यते।

आदिग्रहणाच्चेष्टालीलादेः। तत्र चेष्टा यथा—(चेष्टावैशिष्ट्याद्वाच्यस्य व्यञ्जकत्वम्) 'द्वारोपान्तनिरन्तरे०' इति पद्यम्। स्वगोचरचेष्टाविशेषेण नायिकाया स्वविषयकभावमवधारितवतो नायकस्य सखायं प्रत्युक्तिरियम्। अत्रोरस्समासङ्गादिचेष्टावैशिष्ट्यात् मत्प्रच्छन्नकामुकविषय आकूतविशेषो ध्वन्यते। तत्र प्रथमार्धेन स्पृष्टकमालिङ्गनम्। शिरोंशुकं पुरतः आनीतमित्यनेन गृहमागच्छेरिति, अथ चिते चले लोचने वाचस्तत्र निवारित प्रसरणमित्येताभ्यां सूर्यास्तसमये कोलाहलरहिते काले समागन्तव्यमिति, सङ्कोचिते इत्यनेन पारिलोषिकमालिङ्गनं करोमीति व्यज्यते। यद्यप्येकत्रैवोदाहरणे भेदान्तराण्यपि सन्तीति तदेवोदाहरणान्तरं सम्भवति तथापि निःसन्देहस्फुरणतये प्राप्तावसरतया पुनः पुनरुदाह्रियते। वक्तृबोद्धव्यादीनां प्रत्येकमेव न व्यञ्जकत्वं, किन्तु मिलितानामपीति द्रष्टव्यम्।

द्वयोर्व्यञ्जकत्वं यथा—'अत्ता एत्थ०' इति प्राकृतपद्यम्। छाया 'श्वश्रूरत्र ति अत्राहं दिवसके प्रलोकय। मा पथिक रात्र्यन्ध शय्यायामावयोर्निम

ङ्क्षयसि' इति। अत्र गृहे श्वश्रूरह च। श्वश्रूश्च जरत्तरत्वेन बधिरा, निष्पन्दा च। जनान्तरसञ्चारस्तु नास्त्येव। अतो यथेष्टं मम शय्यायामेव स्वपिहीति व्यङ्ग्यं व्यभिचारिणोर्वक्तृबोद्धव्ययोर्वैशिष्टयात् प्रतिभाजुषा प्रतीयते। एवं त्रिकादिभेदा स्वयमवगन्तव्या।

ननु अर्थमात्रव्यञ्जकत्वे शब्दार्थयुगलरूपकाव्यस्य व्यञ्जकत्वं न सिद्धमि-त्यत आह—

'शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः।
अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता।

इति शब्दरूपप्रमाणेन वेद्यः प्रतिपादितोऽर्थः वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यरूपः अर्थान्तरं व्यङ्ग्यलक्षणं व्यनक्ति प्रकाशयति तत् तस्मात्कारणात् अर्थस्य व्यञ्जकत्वे शब्दस्य सहकारिता विशेषणीभाव इति सूत्रार्थः।

प्र० २—अत्र तृतीयोल्लासे 'तथाभूतां दृष्ट्वा०' इत्युदाहरणे वृत्तावु-क्तम्—'अत्र मयि न योग्यः खेदः, कुरुषु तु योग्यः इति काक्वा प्रका-श्यते' इति। तत्र क आशयो ग्रन्थकृतः स समीचीनतया प्रतिपाद्यताम्।

उ० २—अत्र 'गुरुः खेदं मयि भजति नाद्यापि कुरुष्विति काकोर्वैशिष्टयान्मयि न योग्यः, कुरुषु पुनर्योग्यः मात्सर्यमिति व्यज्यते। नन्वत्रोक्तेन काकुव्यङ्ग्येन वा क्यस्य सिद्धिः शोभनत्वनिष्पत्तिः क्रियते। तथा चापराङ्गतया व्यङ्ग्यं गुणीभूतम् अतो न ध्वन्यङ्गं काकुरिति, चेत् न, उक्तव्यङ्ग्यस्य क्रोधप्रकर्षपर्यवसन्नतया वाच्यस्यैव तदङ्गत्वात् (ध्वन्यङ्गत्वात्)। ननु काकोर्वाच्यसिध्यङ्गत्वम्, यथोक्तं झल्कीकरमहाशयैः स्वीये व्याख्याने यथा—अत्र काकोर्वाच्यसिध्यङ्गत्वं न व्यङ्ग्या-र्थाक्षेपद्वारा अपि तु न भजति इति प्रश्नमात्रोपस्थापनद्वारैव। तेन हि वाच्यार्थे पर्यवसन्ने सति व्यङ्ग्यप्रतीतिरिति कुतो गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वशङ्का।' इति। तदेतदु-क्तम् नच वाच्यमिदमङ्गमत्र काकुरिति गुणीभूतव्यङ्ग्यं शङ्क्यम्, इति। तथापि काकाक्षिप्तव्यङ्ग्यगुणीभूतव्यङ्ग्ययोः प्रभेदता कथमपनेया इति चेत् न। अत्र नेति प्रश्नकाक्वाऽपि कुरुषु पुनर्योग्यं मात्सर्यं इति वाक्यार्थप्रतीतिपर्यवसानात् यां काकुं विना वाक्यार्थबोध एव नोपपद्यते तयैवाक्षिप्तस्य गुणीभावात्।

यथा 'मथ्नामि कौरवशतम्' इत्यादौ भीमसेनादौ तादृशे वक्तरि। तदेवदुष्टम्। प्रश्नमात्रेणापि काकोर्विश्रान्तेरिति। अत्रान्ये एवं कथयन्ति—कुरवु न भवति इति नञ्काकुः किमर्थो, ततः प्रश्नरूपः किमर्थ एवेहाक्षिप्त इति तस्यैव गुणीभावो न्याय्यः, ननु क्रमेणाऽपि काका व्यङ्ग्यो गुणीभूतो भवति। अतएव गुणीभूत विभागे काक्वाक्षिप्तमिति आहुः।

इति तृतीयोल्लासः समाप्तः।



अथ चतुर्थोल्लासः

प्र० १—लक्षणामूलव्यङ्ग्यध्वनेस्तथाऽभिधामूलव्यङ्ग्यध्वनेश्च स्वरूपं सोपपत्तिकं निरूप्य तयोर्भेदानपि सोदाहरणं प्रतिपादयत ।

उ० १—अत्र काव्यप्रकाशे द्वितीयतृतीयोल्लासयोः शब्दार्थयोर्निर्णयः प्रतिपादितः । 'तददोषौ०' इति काव्यलक्षणे निरूपितौ शब्दार्थौ निरूप्य दोषगुणालङ्काराणां स्वरूपमभिधानीयं क्रमप्राप्तमिति कृत्वा दोषाः हि अपकर्षजनकाः, गुणाश्चोत्कर्षहेतवः तथा अलङ्काराश्चोपकारका इति तेषां निरधिकरणस्यासम्भवात् कस्मिन्नधिकरणे एते उत्कर्षं जनयन्ति इत्यादि जिज्ञासा जायत एव । अत आश्रयत्वेन धर्मिणः प्राधान्यम् । अत एवाहुः । 'उद्देश्यतावच्छेदकरूपेणोद्देश्ये ज्ञाते सति एव किञ्चिद्विधातुं निषेद्धुं वा शक्यते इति तस्मात् काव्यस्वरूपमनिरूप्य धर्मितावच्छेदकरूपेण धर्मिणमसंसाध्य तद्गता धर्मा विधातुं न शक्यन्त इत्युपजीव्यत्वात् ध्वनिरूपकाव्यस्वरूपं निरूप्यते । अविवक्षितवाच्यो यस्तत्रेति । अत्र सामान्यरूपेणाज्ञातस्य विभागो न सम्भवति । विभागो नाम स्वसमभिव्याहृतपदार्थतावच्छेदकव्याप्यपरस्परासमानाधिकरणयावद्धर्मप्रकारकज्ञानानुकूलो व्यापारः। यावत्पर्यन्तं पदार्थतावच्छेदकं न ज्ञायते तावत्पर्यन्तं तद्व्याप्यधर्मज्ञानं न जायते इति पदार्थतावच्छेदकज्ञानं पूर्वमपेक्षितम् । अतश्च ध्वनिपदार्थतावच्छेदकस्याज्ञाने तद्द्वैविध्यविभागकथनमसङ्गतमिति तदाह यत्र ध्वनाविति । यद्यपि पूर्वं ध्वनिलक्षणं न कृतं परन्तु यत्पदघटितवाक्येन ध्वनेरुद्देश्यत्वबोधनादुद्देश्यतावच्छेदकरूपेणाऽज्ञाते सति तस्योद्देश्यता न सम्भवतीत्यनुवादसामर्थ्यादेव यत्र वाच्यमविवक्षितं प्रधानकवितात्पर्याविषयीभूतं तद्ध्वनिरिति कल्पनीयमिति भावः ।

लक्षणायां तात्पर्यानुपपत्तिः अन्वयानुपपत्तिरिति बीजद्वयम् । तत्र तात्पर्यानुपपत्तौ सत्यामर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यो ध्वनिः । 'त्वामस्मि वच्मी'ति श्लोकेन नान्वयानुपपत्तिः किन्तु यथा कथनस्यानुपयोगमात्रम् । अतस्तत्र वचमत्वेन सामान्येन वचनविशेष्यस्य उपदेशस्य प्रतीतिरिति वाच्यार्थः । अर्थान्तरे स्वविशेषे सङ्क्रमितः । अन्वयानुपपत्तिमूलस्थले तु 'उपकृत'मित्यादौ उपकारादिर्वाच्योऽर्थः अत्यन्तं तिरस्कृतो नाम बाधितः । अतो वाच्यार्थादन्यदेवापकारादिकं लक्षयतीति सोऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यो ध्वनिः । अत एवात्र जहल्लक्षणा । पूर्वत्र [illegible] अजहल्लक्षणा ।

अभिधामूलव्यङ्ग्यप्राधान्ये शून्यं वासगृहमित्यादौ वाक्यार्थप्रतीतेः ■ प्रतीतिं प्रति कारणत्वात् तत्रान्वयानुपपत्तितात्पर्यानुपपत्ती न स्तः। अपि तु तत्र तात्पर्ये सत्यपि तावन्मात्रे तात्पर्यविश्रमाभावात् तद्गतेन व्यञ्जनाव्यापारेण रसादिरपि प्रत्याय्यत इति विवक्षितान्यपरवाच्यो नाम ध्वनिः। स चासँल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य- लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यश्चेति द्विविधः। आद्यो रसादिः। यतस्तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिरिति सूत्रानुसारेण संयोगस्य रसं प्रति हेतुत्वप्रतीत्या हेतोश्च पूर्वभावित्वनियमेन क्रमोऽस्त्येव। परं सामाजिकैर्वाक्यार्थप्रतीत्यात्मकत्वेनैव रसादिप्रतीतेरनुभवात्क्रमो न प्रतीयते। उत्तरत्र तु अनुरणनन्यायेन 'उव णिच्चले'त्यादौ निष्पन्दत्वेनाश्वस्तत्वम्। इत्यादिक्रमेणैव प्रतीयत इति सँल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिः। यत्र कैलासालयेत्यादिश्लोके पत्यैरक्षिश्चिदिति श्लोके च शृङ्गारः भावशबलता वा प्रतीयते सा च 'सदा ग्रायता'मिति 'त्वद्विद्विषोऽरण्यगृहे'रिति च पदोपस्थापितपार्वतीराजादिविषयकरत्यादिकमुपकरोतीति उपकारकलक्षणमलङ्कारत्वं तेषां सच गुणीभूतव्यङ्ग्याभिधाने वक्ष्यते। शून्यं वासगृहमित्यादिश्लोके काकार्यमिति श्लोके च शृङ्गारः भावशबलता वा प्राधान्येन प्रतीयते न तु तदपेक्षयापि श्लोकप्रतिपाद्यं प्रधानं किञ्चिदस्ति अतः स एव सँल्लक्ष्यते नत्वन्यमुपकरोतीति सोऽलङ्कार्यः।

प्र० २—रसलक्षणनिरूपणाय व्याख्यायेतामिमे कारिके—

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च ।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ॥
विभावा अनुभावास्तत्कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः ॥

उ० २—तत्रानादिसंसारसम्बन्धानुभूतनानाभावानां प्रत्यात्मसंस्काररूपतया स्थितिर्वर्तते सत्सु चैतेषु भावेषु कारणकलापसमवधाने तेषामुद्बोधो भवति। अत एव ते स्थायिन उच्यन्ते। यद्वा काव्ये आप्रबन्धसमाप्ति अविच्छेदेनेतररसविरुद्धाऽविरुद्धभावैरतिरस्कृतत्वेन च वर्तमानतया ते तथोच्यन्ते। यदाहुः—

अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः ।
आस्वादाङ्कुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति सम्मतः ॥

तेषाञ्च स्थायिनां यमालम्ब्योद्गमो भवति यैश्च ते उद्दीप्यन्ते ते लोके कारण-

पदव्यवहार्याः काव्ये विभावयन्तीति व्युत्पत्त्याऽऽलम्बनोद्दीपनरूपा विभावा उच्यन्ते। तत्र नायिकादिरालम्बनविभावः। उद्यानादिकमुद्दीपनविभावः। तत्कार्यभूताश्चानुभावाः। अनुभावयन्ति स्वगतान् रत्यादीन् परात्मस्वापादयन्तीत्यनुभावाः। अथवा अनुभवरत्यादेः पश्चाद्भवन्तीत्यनुभावाः। एतेन तेषां कार्यत्वमुक्तं भवति। व्यभिचारिणः सहकारिकारणानि। यदुक्तम्—'विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः' इति। विशेषाद्रत्यादेरुद्रेकात् नहि रत्युत्पत्तिमात्रेण चित्तोन्मादादीनामवसरः। आभिमुख्येनानुकूल्येन। एतैश्च विभावानुभावव्यभिचारिभिर्मिलितैर्व्यक्त आस्वादयोग्यतामापादितो रत्यादी रसः। व्याख्यातमन्यत्।

प्र० ३—काव्यप्रकाशोक्तरसवादप्रपञ्चस्तेनैवोक्तदिशा व्याख्याय तेषां हेयोपादेयते अपि सविस्तरं प्रतिपादयत।

उ० ३—अत्रेदं विवृण्वत इति। भट्टलोल्लटप्रभृतयः इति सम्बन्धः। 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः', इति भरतसूत्रे हेतौ पञ्चमी। हेतुत्वञ्च कारकत्वं ज्ञापकत्वं वा। ज्ञापकत्वेऽपि तद्विषयकानुमितिजनकज्ञानविषयत्वं वा, तद्विषयकप्रत्यक्षजनकज्ञानविषयत्वं वा, तद्विषयकशाब्दजनकज्ञानविषयत्वं वा। तत्र कारकत्वमतानुयायिनो भट्टलोल्लटप्रभृतयः। तेषामयमाशयः।

रत्यादयो हि न समवायेन नटे सामाजिके वा सम्भवन्ति। तदानीं तयोस्तदुत्पादकसामग्र्यभावात्। शिक्षाभ्यासादिमात्रेण रामादिरूपतां दर्शयतो नटस्य हृद्युत्पादकसामग्र्या लेशोऽपि न शक्यते वक्तुम्। सामाजिकेऽपि सीतादिगतपूज्यत्वबुद्धेर्जागरूकतया प्रत्युत वैरस्यप्रसङ्गः। अतः सीतादिदर्शनेन तत्कार्यभूतेन भ्रूविक्षेपादिनाऽनुभावेन सहकारिणा चौत्सुक्यादिनाऽनुकार्ये रामादावेव रतिरुत्पद्यते। सैव चरति निरतिशयसुखास्वादरूपो रसो नाम। नटे तु न तस्य वास्तविकी स्थितिः। किन्तु तस्य तद्रूपेण रूपितत्वादत्यन्तं सदृशयोस्तयोर्भेदस्याप्रतीतेः सा भ्रमरूपैव। कथमन्यदीयसुखकारणैरन्यस्य रसोत्पत्तिः स्यादिति।

ततश्च सूत्रे कारकहेतुत्वम् तन्मते विवक्षितम्। निष्पत्तिः उत्पत्तिः। एतदेवाह वृत्तौ विभावैरित्यादिना। तत्र वासनारूपतया सूक्ष्मतया वर्तमानान् स्थायिनो रत्यादीन् विभावयन्ति आस्वादाङ्कुरयोग्यतां नयन्ति इति व्युत्पत्त्याऽऽल-

म्बनोद्दीपनभेदेन द्विविधो ललनोद्यानादिर्विभाव । तथाविधास्ताननुभावयन्ति इत्यनुभावा कटाक्षादय । प्रभृतिपदात्—

स्तम्भ स्वेदोऽथ रोमाञ्च स्वरभङ्गोऽथ वेपथु ।
वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका स्मृता ॥

इति सात्त्विकाना सङ्ग्रह । तथाविधाश्च रत्यादीन् विशेषेण चारयन्तीति व्यभिचारिणो निर्वेदादय । यदाहु 'विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिण ' इति ।

अत्राहु । अनुकार्ये रामादौ रसोत्पत्त्यङ्गीकारे कथ सामाजिकेषु रसोद्बोध । कथञ्च तेषा नाट्यादौ प्रवृत्ति । न च रामादिश्रृङ्गारदर्शनेनैव सामाजिकाना रसोद्बोध इति वक्तु युक्तम् । लौकिकश्रृङ्गारादिवत्तस्य चमत्काराहेतुत्वात् । किञ्च रामादिगततयैव रसत्वे रसस्यानन्दात्मकत्वात्तद्गतक्रोधभीत्यादेरपि सुखत्व वाच्यम् । तच्चैतदनुभवविरुद्धम् । नहि लौकिकदु खकारणे सुखोत्पत्ति क्वचिदपि परिदृश्यते । अतो न पूर्वोक्तलक्षणो रस । नापि सूत्रे कारकहेतुत्वमर्थ किन्तु विभावादिभिरुक्तरूपै सयोगादनुमाप्यानुमापकभावसम्बन्धात् रसस्य निष्पत्तिरनुमितिरिति सूत्रस्यार्थ इति श्रीशङ्कुकादीनां द्वितीय मत तदाह 'राम' इत्यादिना ।

अस्य ह्यर्थ । प्रथम नटे लोकप्रतीतिभ्यो विलक्षणतया रामोऽयमिति प्रति पद्यते । तथा गृहीते च तस्मिन्पक्षे भ्रूविक्षेपादिकार्यकारित्वेन हेतुना 'सीताविषय रतिमान् भ्रूविक्षेपादिकारित्वात् इति रतिमत्व भूयो गृहीतव्याप्तिकै सामाजिकैरनुमीयते । ननु नटे भ्रूविक्षेपादीना कृत्रिमत्वात् कथ तैरनुमितिरिति चेन्न । अभ्यासपाटववशात रोमाञ्चोत्कण्ठादीनामभिनयाद्भुतु कृत्रिमैरपि भावना महिम्ना तथाऽप्रतीयमानैस्तैरालम्बनोद्दीपनकारणै स्थायिनो रत्यादेरनुमानस्य सुवचत्वात् । सैवानुमिति सामाजिकै क्रियमाणा रस । तत्र नटे रामोऽयमिति प्रतिपत्तेर्लौकिकस्य वैलक्षण्य प्रदर्शयति । राम एवेति । इद तावत् निश्चयात्मक ज्ञानम् । तत्र राम एवायमित्यत्राऽयोगव्यवच्छेद । अयमेव राम इत्यत्रान्ययोग व्यवच्छेद सूचित । मिथ्याज्ञानमाहार्यज्ञानम् । तच्च न रामोऽयमित्यौत्तर कालिके बाधे रामोऽयमित्यनेनोक्तम् । बाधकालीनमिच्छाजन्य ज्ञानमाहार्यम् । राम स्याद्वा न वाऽयमिति सशय । रामसदृशोऽयमिति सादृश्यधी । एभ्यो

विलक्षणं नटे रामोऽयमिति प्रतिपत्तिः । सा च नटे रामत्वबाधग्रहेऽपि रामसदृशाकारेण चित्रगतेऽश्वेऽश्वाकृतिमत्त्वेनाश्व इतिवद्भवतीति । दृष्टस्य जातेर्बाधे आकृतिप्रकारो बोध्यः । यथा पिष्टकमय्यो गावः क्रियन्तामित्यादौ जात्याकृति व्यक्तयः पदार्था इति तस्य पदार्थत्वाङ्गीकारात् ।

अत्राहुर्भट्टनायकादयः । नटस्य हि नटत्वेन ज्ञाने तत्र सीताविषयकरतिर्बाधिता, चित्रतुरगन्यायेन रामत्वेन गृहीतेऽपि रामः सीताविषयकरतिमान् इत्यनुमित्या सामाजिकानां कथं रसोद्बोधः तत्र तेषामुदासीनत्वात् । स्वात्मनि रतिमत्त्वज्ञाने च सभ्यानां व्रीडातङ्कादिप्रसङ्गः केन वार्येत । एवञ्च पक्षोऽप्रत्यक्षः । न च पक्षं विनाऽनुमितिर्भवितुं शक्यते । अनुमित्यसम्भवे च कुतो रसास्वादार्थिनां सामाजिकानां तत्र प्रवृत्तिः स्यात् । किञ्च प्रत्यक्षमेव चमत्कारहेतुर्नानुमितिरित्यनुभवविरोधश्च । तथा सति कथं रसं साक्षात्करोमि इत्यनुव्यवसायः स्यात् । तस्मान्न पूर्वोक्तं सम्यक् । अपि तु विभावादिभिः संयोगाद्भोज्यभोजकभावरूपाद्रसस्य निष्पत्तिर्भोग इति सूत्रार्थः । ननु कथमन्यगतैर्विभावादिभिरन्यगत एव स्थायी अन्येन भोक्तव्य इति चेदाशङ्क्यते तत्र वदामः—इह खलु काव्यस्य शब्दात्मकस्य त्रयो व्यापाराः । अभिधा, भावकत्वं भोजकत्वं चेति । तत्राभिधा—तत्तत्पदार्थोपस्थितिप्रयोजिका । भावकत्वञ्च साधारणीकरणपरपर्यायम् । तेन व्यापारेण विभावादयः स्थायी च साधारणीक्रियन्ते । अर्थात्कामिनीत्वादिसामान्येनोपस्थाप्यन्ते । ततश्च भावनावशेन स्वगतपरगतात्वयोर्भोपाङ्गतिः वमात्र पुरस्कारेण बोधो भवति तैश्च साधारणीकृतविभावादिभिस्तथाकृत एव स्थायी भुज्यते । भोगश्चानन्दात्मको रसपदव्यवहार्यः । एवञ्च प्रत्यक्ष एव रसः । न च शब्दान्वयव्यतिरेकानुविधायितया तत्र शाब्दत्वमपीति वाच्यम् । सङ्करप्रसङ्गात् । शाब्दत्वप्रत्यक्षयोर्युगपदनवस्थानात् ।

एतदेवाह—न ताटस्थ्येनेति । तटस्थ उदासीनो नटे रामादिर्वा । नटगतत्वे बाधो, रामादिगतत्वे सभ्यानामौदासीन्यम् । तृतीयमपि निरस्यति नात्मगतेनेति । रसो न प्रतीयते नानुमितिविषयीक्रियते तथा सति सामाजिकानां व्रीडातङ्कादिप्रसङ्गात् । किञ्चानुमितिरपि न सम्भवतीति प्राक् प्रतिपादितम् । नोत्पद्यते विभावादीनामतात्त्विकत्वात् । रसस्य च समूहालम्बनत्वात् । नाभिव्यज्यते न व्यञ्जनयोपस्थाप्यते । रसस्य पूर्वमसिद्धत्वात् । सिद्धस्यैव तत्सम्भवादिति भावः । अपि तु काव्ये नाट्ये चाभिधातो (लक्षणातोऽपि) अन्येन भावकत्वनाम्ना

साधारणीकरणेनालौकिकव्यापारेण भाव्यमानः साधारणीक्रियमाणः सत्त्वोद्रेकेति सत्त्वस्योद्रेकेण रजस्तमसी अभिभूयाविर्भावेन प्रकाश्यमानो य आनन्दः तदात्मिकैव संवित् ज्ञानम् तस्य विश्रान्तिर्वेद्यान्तरसम्पर्कशून्यतयाऽवस्थानं तत्सतत्त्वेन स्वरूपेण भोगेन भोजकत्वव्यापारेणेति।

अभिनवगुप्तपादादीनां मते सर्वं भट्टनायकवदेव। विशेषस्तु 'दशमस्त्वमसी'-त्यादौ एकत्रैव शाब्दप्रत्यक्षयोर्दृष्टतया शब्दान्वयव्यतिरेकानुविधानस्यैव च शाब्दत्वप्रयोजकत्वेन, तस्य च श्रव्ये वर्तमानतया अभिधादेश्च विरतत्वेन तत्र व्यङ्ग्यत्वमपि। नापि तन्मते भावकत्वभोजकत्वाख्य व्यापारद्वयं कल्प्यते प्रमाणाभावात् भुक्तेर्ज्ञानातिरिक्तत्वस्यानुभवविरुद्धत्वात्। इति तदेतद्विवृण्वते लोके इति। प्रमदादिभिः प्रमदोद्यानकटाक्षोत्कण्ठादिभिरालम्बनोद्दीपनकारणकार्यसहकारिभिः स्थायिनो रत्यादेरनुमानेऽभ्यासपाटववतां सामाजिकानामित्यभिप्रेमेणान्वयः। अत एव सवासनानामेव रसास्वादो नेतरेषामरसिकानामित्युक्तं भवति। यदाहुः—

सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्
निर्वासनास्तु रङ्गान्तः काष्ठकुड्याश्मसन्निभाः। इति

काव्ये उक्तरूपे नाट्ये 'आङ्गिको वाचिकश्चैवमाहार्यः सात्त्विकस्तथा' इत्युक्तचतुर्विधाभिनयात्मके दृश्यकाव्ये तैरेव प्रमदादिभिरेव कारणत्वादिपरिहारेण लौकिककारणत्वकार्यत्वसहकारित्वव्यपदेशपरित्यागेन विभावनादिव्यापारवत्त्वात् आदिपदादनुभावसञ्चारिणौ। ननु तथापि कथमन्यनिष्ठैर्विभावादिभिरन्यनिष्ठस्य स्थायिनोऽभिव्यक्तिरित्यत आह—ममैवैते इत्यादिस्वगतत्वपरगतत्वाद्ययोर्भावात् साधारण्येन प्रतीतैस्तैः स्थाय्यभिव्यक्तौ बाधकाभावादिति भावः। अत एव च बीभत्सादिभ्यः सुखमेव सञ्जायत इत्यत्र न विरोधः। असाधारणीकृतैस्तैः [illegible]त्वात्। तत्कालविगलितेति—तत्काले रसास्वादकाले विगलितो[illegible]य परिमितप्रमातृभावः ममैवैते अहमेव रसास्वादयिता इत्येवरूपेणानुभूयमानो यो व्यक्तिविशेषसम्बन्धः तद्वशेनोन्मिषितो वेद्यान्तरसम्पर्कशून्योऽपरिमितभावो यस्य तेन प्रमात्रा सामाजिकेन सकलसहृदयसंवादभाजा प्रमातृविशेषसम्बन्धित्वतत्समवेतत्वाग्रहरूपेण साधारण्येन (साधारणीकरणव्यापारेण) स्थायी चर्व्यते 'विभावादिजीवितावधिरि'त्यनेन चर्वणाया अनित्यत्वमुक्तम्, 'पुर इव प्रविशन्' इत्यादि रसस्तत्र शेषं स्पष्टम्।

प्र० ४—काव्यप्रकाशकृदुक्तरसप्रपञ्चनिष्कर्षतो रसस्वरूपं कथं निर्धारितं भवतीति सामान्यरूपेण सविस्तरं प्रतिपादयत।

उ० ४—अथ रसस्वरूपमाह 'कारणान्यथ कार्याणी'ति कारिकाद्वयेन। स्थायिन स्थितिशीलस्य रत्यादिसंस्कारस्येति यावत्। रत्यादीना हि ज्ञानरूपत्वात् तृतीयक्षण एव नाशात् स्थितिशीलत्व न सम्भवति इति रत्याद्यनुभवजनित· संस्कार एव स्थायिपदेनोच्यते इति स्वशास्त्रसङ्केत। यद्यपि संस्कारे कारणमनुभव एव तथाप्यत्र संस्कारोद्बोधे कारणमिति ज्ञेयम्। विशेषेण भावयन्ति संस्काररूपेण स्थित रत्यादिक रतित्वादिनाऽनुभवगोचरतामापादयन्ति इति विभावा नायिकादर्शनात्पूर्वं व्याघ्रदर्शनात् पूर्वं वा अनादौ ससारे अनादीना जीवाना पूर्वपूर्वजन्मसु कदाचित्कदाचिन्नायिकाव्याघ्रादिदर्शनजनितरतिभीत्यादिसंस्काराणा वर्तमानत्वेऽपि इदानीं नायिकादर्शनं विनाऽहं रतिमान् इति व्याघ्रदर्शनं विनाऽहं भीतिमानिति न कश्चिदनुभवति। अत विशेषाकारेण संस्कारमुत्पादयन्तो विभावा उच्यन्ते। तत्र समवायसम्बन्धेन रत्याद्युद्बोध प्रति यद्विषयक ज्ञान कारण स आलम्बनविभाव इत्युच्यते। समूहालम्बन ज्ञानमित्यादौ विषयस्यालम्बनपदेन प्रसिद्धे। उद्बुद्धस्य रत्यादेश्चिरकालवृत्तित्व सम्पादक उद्दीपनविभाव इत्युच्यते। न हि नायिकादर्शनमात्रेणोद्बुद्धाऽपि रति पुष्पक्षेत्रे पर्यंकाले वा चिर तिष्ठति अपि तु उपवनवसन्तादिष्वेव। अतस्त उद्दीपनविभावा उच्यन्ते। यद्यपि नायिकादर्शनेन संस्कारोद्बोधात् तज्जनिताऽपि रतिर्ज्ञानत्वादेव तृतीयक्षणे नश्यति तथापि तादृशरत्यादिपूर्वजनितज्ञानबाधकविजातीयज्ञानानन्तरितपूर्वज्ञानसजातीयज्ञानपरम्पराधारोत्पादनमेवात्र चिरकालवृत्तित्वपदेन बोध्यम्। अनुभावास्तु अनु पश्चाद् भवन्तीति एव व्युत्पत्त्या कार्यरूपा अनुभावयन्तीति व्युत्पत्त्या 'कार्यात्कारण गम्यते' इति न्यायेन ते एव परास्मसमवेता रतिं परैः प्रत्यक्षीकर्तुमयोग्यामनुमापयन्तीति अनुभावा। व्यभिचारिणस्तु अनियतत्वादसौ सत्यामालम्बनविभावस्य नायिकादरिचोन्मादादेरनियत त्वाद्व्यापका व्यभिचारिण इत्युच्यन्ते। अथवा रत्यादीना विशेषादाधिक्या दाभिमुख्येन चरन्ति रत्यानुकूल्येनैवोत्पद्यन्ते इति व्युत्पत्तिद्वयेन तथोच्यन्ते। नहि सर्वदा रतौ सत्यामुन्मादो भवत्येवेति नियम। आधिक्ये तु कदाचित् भवत्यपि ते जायमाना अपि न रतिं विनाशयन्ति। अपि तु परिपुष्णन्त्येवेति लोकसिद्धम्। तदेवाह—'सकृसूत्रवृत्त्या भावानामि'ति तैः विभावाद्यै-

व्यक्तः व्यञ्जनाव्यापारेण प्रत्यायितः रत्यादिः रसपदवाच्यः। असंलक्ष्य-क्रमव्यङ्ग्ये क्रमस्य सत्तायां भरतसूत्रसम्मतिमाह—विभावानुभावेत्यादि। अत्र संयोगादिति हेतौ पञ्चम्या तस्य प्राग्वृत्तित्वं बोधितम्। तेन क्रमोऽस्ति। शैघ्र्यात्तु न प्रतीयते इति भावः। *अत्र सूत्रस्य व्याख्यानचतुष्टयम्।* हेतौ पञ्चमी संयोगस्य कारकहेतुत्वमाह। तेन रसनिष्पत्तिरित्यस्य रसोत्पत्तिरित्यर्थः। अयं च कार्यत्ववादः भट्टलोल्लटादीनाम्। एतेषां मते अनुकार्ये रामादावेव रसः सीतो-पवनौत्सुक्यादिसंयोगस्य राम एव सम्भवात्। सामाजिकानान्तु तदनुकारिनटदर्शनेन रसप्रतीतिः भ्रमात्मिकैव। एतन्मते रामसमवेतायाः रतेः सुखात्मकत्वमिव भीत्यादेर्दुःखात्मकत्वमपीति सर्वेषां रसानामानन्दात्मकत्वं न सिद्ध्यति। किञ्च विभावादीनां कारणत्वं हि न समवायिकारणत्वं ज्ञानात्मिकां रतिं प्रति रामस्यैव समवायित्वात्। नापि असमवायिकारणत्वं गुणक्रिययोरेवासमवायित्वाङ्गीकारात्। आत्मविशेषगुणभूतायां रतौ असमवायिकारणासम्भवाच्च। अतः निमित्तकारण-त्वमेव वाच्यम्। तथा च तन्नाशेऽपि रसः स्थितिं प्राप्नोति। न हि निमित्तकारणे दण्डादौ विनष्टे घटस्यापि नाशः। अत्र तु विभावादिजीवितावधित्वं वक्ष्यते। किञ्च रामात्मनि समवेताया रतेरेव रसत्वे सामाजिकानां तत्प्रत्यक्षासम्भवात् तदास्वादनार्थं तेषां प्रवृत्तिरपि अनुपपन्ना स्यात्। नह्यारोपितरत्यादिप्रत्यक्षाय कोऽपि प्रयतते इति दृष्टम्। तस्माद्रसकार्यत्ववादो न युक्तः। अपि संयोगा-दिति ज्ञाप्यत्वहेतौ पञ्चमी। तत्र ज्ञानत्वं तज्जन्यज्ञानविषयत्वम्, तज्जन्यज्ञानमनु-मितिरिति श्रीशङ्कुकः। प्रत्यक्षात्मकमिति भट्टनायकः। आद्यमते नटगतो रसः अन्त्ये सामाजिकगतः। निष्पत्तिरित्यस्यानुमितिरिति आद्यमते। भुक्तिरिति चान्त्येऽर्थः। साक्षात्कार एव भोगपदेनोच्यते सुखभोग इत्यादौ तथा दर्शनात्। साक्षात्कारत्वेऽपि दशमस्त्वमसीत्यादौ प्रत्यक्षत्वशाब्दत्वयोर्दर्शनात्। इन्द्रिय-[illegible] ...नित्वे एकस्मिन्नपि ज्ञाने शाब्दत्वप्रत्यक्षत्व-[illegible] दोषानाधायकत्वाच्छाब्दत्वप्रत्यक्षत्वयोर्जातित्वानङ्गी-काराद्वा एकत्र ज्ञाने द्वयोः सत्त्वेऽपि न दोषः। अत्र हि सामाजिकानामा-त्मगः संयोगादिसामग्र्यां सत्यामेव यथा रसप्रत्यक्षमेवं 'शून्यं वासगृहमि'त्या-दिश्लोकार्थज्ञाने सत्येव नान्यथा। अतः प्रत्यक्षकारणस्यैव शाब्दबोधकारण-स्यापि अन्वयव्यतिरेकौ स्त एव। तत्र शब्देन रसप्रतीतौ जननीयायां शब्दगतः अभिधाव्यापारः। तस्या वाच्यार्थबोधनमात्रेणैव विरतत्वात्।

विरम्य व्यापाराभावात्। नापि लक्षणा मुख्यार्थबाधाद्यभावात्। मीमांसकाभिमततात्पर्याख्यवृत्तिस्तु पदार्थयो संसर्गमात्रबोधनेनोपक्षीणा न रसबोधोपयोगिनी। अत व्यक्तिर्नाम व्यञ्जनाख्यापारोऽभिनवगुप्तपादादिभिराश्रित। एवञ्च उत्पत्ति, अनुमिति, भुक्ति, व्यक्तिरिति क्रमेण चत्वारो वादा। तत्रानुमितिपक्षे पक्षतावच्छेदकरूपेण पक्षप्रत्यक्षे सत्येव तस्मिन्हेतुनिश्चयेन साध्यानुमितिर्भवति। अत पक्षप्रत्यक्षमुपपादयति—राम एवायमित्यादिना। अत्रैतत्कालीने नटे त्रेताकालोत्पन्नराममभेदस्य निश्चितत्वादयं नट रामान्यो नेति ज्ञान न सम्भवति। नापि रामो नटान्यो नेति ज्ञान, नाप्यय रामो न वेति संशयात्मक तथा सति पक्षतावच्छेदकरूपेण पक्षप्रत्यक्षाभावादनुमित्यभावप्रसङ्गात्। नापि न रामोऽयमिति सत्य भेदज्ञान पूर्वोक्तदोषादेव। अत एव न रामसदृशोऽयमिति ज्ञानम्। नहि पक्षसादृश्यमात्रज्ञानेन अनुमितिर्दृष्टा। अपि तु रामत्व बाधग्रहे सति रामगतावयवसंस्थानदर्शनेनाकृतिप्रकारक रामोऽयमिति ज्ञान यथा चित्रतुरगे जातेर्बाधे आकृतिमात्रप्रकारिका प्रतीति। अत एवाहु—'जात्याकृतिव्यक्तय पदार्था' इति। एतेन पक्षप्रत्यक्षमुपपादितम्। 'सेय ममाङ्गे'त्यादिना। तत्र हेतुप्रत्यक्षमुपपादयति। यद्यपि नट रत्यादिशून्योऽप्यभ्यासमात्रेण तथा तथा प्रदर्शयति एव केवलम्। तथापि सामाजिकास्तत्कृतान् हेतून् कृत्रिमत्वेन न जानन्ति। एवञ्च कृत्रिमत्वेनाज्ञातै रत्यादिकार्यभूतै विभावपदर्शनादादिभि नटा‍ग्नि रतिरनुमीयते। अनुमीयमाना रतिरेव रस। यद्यपि नटे रतिमनुमिनोमि इति सामाजिकानामनुव्यवसायो युक्त, तथापि तस्या अनुमिते सुखविशेषजनकत्वादन्यानुमितिवैलक्षण्येन रतिं साक्षात्करोमीत्येवानुव्यवसाय इति श्रीशङ्कुकमतम्।

रसस्यानुमेयत्वपक्षे—'नट सीताविषयकरतिमान्' इत्यादि बाधज्ञाने सति न सम्भवति, सर्वे हि सामाजिका नट शिक्षाभ्यासादिमात्रेण तथा तथाऽनुकुर्वन्नमेव जानन्ति न रतिमत्त्वादिना। किञ्च अन्यात्मगतरत्यनुमानेन सामाजिकाना कथमानन्द। नहि प्रत्यक्षेण जायमान फलमनुमानमात्रेण भवति। तथा सति मोदकभोजनाद्यनुमानेनापि तृप्त्यादिप्रसङ्गात्। अत रसस्य प्रत्यक्षत्वमेव वाच्यम्। तथेष, काव्यस्य निरन्तरालोचनेन नाट्यस्य सन्ततदर्शनेन सामाजिकाना प्रथम 'राम सीताविषयकरतिमान्' इत्यादि विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानमेव जायते।

तस्यैव च निरन्तराभ्यासदशायां सीताविषयत्वरामसमवेतत्वांशप्रमोषो भवति। ज्ञानाभ्यासे हि द्विविधमपि सामर्थ्यमस्ति। पूर्वपूर्वज्ञानविषयेण सहोत्तरज्ञाने अधिकविषयत्वं यथा व्युत्पित्सुदशायां पूर्वमेकैकं पदार्थं मनसिकृत्य पश्चाद्द्वितीयादि-पदार्थैः सह तान् चिन्तयन् व्युत्पित्सुः क्रमेण महावाक्यार्थमपि एकक्षणे [illegible] जानाति। पूर्वं विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिज्ञाने सत्यपि तदीयैकांशप्रमोषेण चरमज्ञान-दशायामेकपदार्थमात्रम्। भ्रूविक्षेपकटाक्षकारित्वादित्यनुमानाकारो वाच्यः। स च नटो न रतिमान् जानाति। यथा कीटभ्रमरस्थले ब्रह्मसाक्षात्कारे वा प्रथम कीटो भ्रमरो मामागत्य दशतीति जानन्नपि क्रमेणैकैकांशप्रमोषे भ्रमर-मात्रविषयीकुर्वन् स्वयं भ्रमररूपो भवति तथैव ब्रह्मज्ञोऽपि। इत्थञ्च सीता-विषयकत्वांशप्रमोषे सति रतित्वेन ज्ञायमाना रतिः स्वात्मनि संस्काररूपेण रतिं विषयीकरोत्येव। अयमेव साधारणीकरणात्मा व्यापारः इत्युच्यते। 'अहं सीता-विषयकरतिमानि'त्याकारकज्ञाने उच्यमाने सामाजिकानां व्रीडाऽऽतङ्कादि प्राप्नोति। 'रामः सीताविषयकरतिमान्' इति ज्ञाने तु परात्मसमवेतरत्यादीनाम-प्रत्यक्षतापातः। अत एवमुच्यते। एतादृशज्ञानोत्पत्तौ च सत्त्वोद्रेको निमित्तम्। ततश्च व्यक्तिविशेषवृत्तित्वव्यक्तिविशेषसमवेतत्वांशप्रमोषवती रतित्वेन ज्ञाय-माना सत्त्वोद्रेकजनिता रतिर्मीतिर्वेत्येवंरूपा वृत्तिः सत्त्वाधिक्यस्वभावात् सुखमेव जनयति न भयादिकम्। पुत्रमरणादीनां राज्यलाभादीनां वा स्वात्मगतत्वेन प्रतिसन्धीयमानानामेव दुःखादिहेतुत्वं लोके प्रसिद्धम् अत आत्मसम्बन्धित्वेन ज्ञायमानानामेव तेषां शोकादिहेतुत्वं वाच्यम्। तच्चात्र नास्तीति न कोऽपि दोषः, अयमेव भुक्तिवादः।

प्र० ५—व्याख्यायतां निम्नोद्धृतपदपङ्क्तिः सोदाहरणं स्पष्टीकृत्य-'यद्यपि विभावानामनुभावानामौत्सुक्यव्रीडाहर्षकोपासूयाप्रसादानां च व्यभिचारिणां केवलानामत्र स्थितिस्तथाप्येतेषामसाधारणत्वमित्यन्य-तमद्वयाक्षेपकत्वे सति नानैकान्तिकत्वम्।'

उ० ५—अत्र ग्रन्थकृता त्रीणि पद्यान्युदाहृत्य केवलविभावात्मिका, केवला-नुभावात्मिका तथा केवलकतिपयव्यभिचारिभावात्मिका स्थितिः सम्प्रदर्शिता। केवलविभावात्मिका स्थितिरत्र 'वियदलिमलिन' पद्ये, केवलानुभावानामस्तित्वं

'परिमृदितमृणाली' इति पद्ये, तत्रौत्सुक्यव्रीडाहर्षकोपासूयाप्रसादानां व्यभिचारिमात्राणां वर्तित्वं 'दूरादुत्सुकमि'ति पद्ये प्रदर्शितमस्ति । तत्र आद्ये पद्ये 'प्रणतिपरे प्रेयसी'ति कामिनीगताया रतेरालम्बनविभावस्य 'वियदलिमलिनाम्बुगर्भमेधम्' इति । मधुकर ···दिशां श्रीः, धरणि······टङ्क, इति उद्दीपनविभावानामेव केवलानां स्थितिः साक्षादुल्लिखिता वर्तते । तथा द्वितीये पद्येऽङ्गानां म्लानत्वं, क्रियासु प्रवृत्तिजाड्यं तथा कपोलस्य पाण्डुतादिकेवलानुभवानामेवोल्लेखः, तथा च तृतीये पद्ये 'दूरादुत्सुके'त्यादिविशेषणैः क्रमेण व्यञ्जितानामौत्सुक्यलज्जाहर्षकोपासूयाप्रसादानां व्यभिचारिमात्राणामुल्लेखः । यद्यपि प्रसादस्य व्यभिचारिभावेषु गणना न दृश्यते तथापि मनःप्रसादस्य हर्षापरपर्यायतया व्यभिचारिषु योज्यः । तृतीयोदाहरणे यद्यपि प्रेयसीति आलम्बनविभावस्य निर्देशसत्त्वात् तथापि तस्य रतिधर्मानुकूलत्वेन निर्वेदास्वादनरतिभावो ज्ञेयम् । विभावानुभावव्यभिचारिभिर्मिलितैरेव तैः स्थायिभावो रसः स्मृतः इत्युक्तं प्राक् तर्हि कथमत्र रसस्योत्पत्तिरिति चेन्नैवम् । पूर्वोक्तेषु त्रिष्वपि पद्येषु विभावानामेव केवलानाम् प्रथमे, अनुभावमात्राणां द्वितीये, व्यभिचारिमात्राणां च तृतीये असाधारणत्वसत्त्वेऽपि द्वयमन्यदपि तथाऽऽक्षिप्यते एव । असाधारणत्वं नाम मुख्यत्वं,रसविशेषस्यापकत्वम् अथ प्राकरणिकनियतावस्थितिकत्वं वा ज्ञेयम् । अनैकान्तिकत्वं, व्यभिचारित्वम् । तद्रसनिष्पत्तिहेतुत्वे अनैकान्तिकत्वं नेति मानैकान्तिकत्वम् । अत्रायं भावः । रसस्य समूहालम्बनरूपत्वादेकैकस्मादसाधारणादपि रसव्यक्त्यभावात् मिलितानामेव त्रयाणां व्यञ्जकत्वम् । अतोऽसाधारणेनापीतरद्वयमाक्षिप्यत इति मिलितैस्तद्भिव्यक्तिरिति मानैकान्तिकत्वम् ।

प्र० ६—'शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः । बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः' इति कारिकोक्तरीत्या प्रतिरसं स्थायिभावस्य विभावादीनाञ्च स्पष्टतया निर्देशः कार्यः । 'शान्तोऽपि नवमो रसः' इत्यस्याप्यत्र समावेशः कार्यः ।

उ० ६—अत्र 'स्थायिभावो रसः स्मृतः' इति निर्देशात् शृङ्गारस्य रतिरेव स्थायी । कान्ताद्यालम्बनविभावः । स्रक्चन्दनाद्युद्दीपनविभावः । कटाक्षाद्यनुभावः । व्रीडादिसंचारितः शृङ्गारः इत्थं कोष्ठकरूपेणात्र प्रदर्श्यते—

रस	स्थायिभाव	आलम्बन वि०	उद्दीपन वि०	अनुभावा	सञ्चारिभावा
शृङ्गार	रति	कान्तादि	स्रक्चन्दनादि	कटाक्षादय	व्रीडातङ्काद्य
हास्य	हास	विकृतिकृत्	वैकृतादि	गल्लफुल्लनादि	श्रमादि
करुण	शोक	मृतादि	मृतगुणादि	रोदनादि	दैन्यादय
रौद्र	क्रोध	द्विषद्	द्विषदपकार	विकत्थनादि	गर्वादय
वीर	उत्साह	द्विषद्विद्ध्वन	अपकारादि	प्रतिकारादय	हर्षावेगचिन्तादय
भयानक	भयम्	विकटादि	विकटकर्मादि	पलायनादि	जडतादय
बीभत्स	जुगुप्सा	विण्मूत्रादि	दुर्गन्धादि	निष्ठीवनादि	ग्लान्यादय
अद्भुत	विस्मय	विस्मयजनक कर्मकर्ता	विस्मयकर्म	चकितत्वादि	हर्षादय
शान्त	निर्वेद शमोवा	मिथ्यात्वेन परिभाव्यमान जगत्	तपोवनादि	अहिहारादौ समदर्शनम्	मतिधृति हर्षादय

प्र० ७—पूर्वोक्तनवरसानां लक्षणोदाहरणानि विलिख्योदाहरणेषु तेषु विभावादीनां स्थायिभावपूर्वकं सुविशदनिर्देशः कार्यः ।

उ० ७—शृङ्गारादीना लक्षण च रत्यादिप्रकृतिकत्वम् । तत्र 'मनोऽनुकूले ष्वर्थेषु सुखसंवेदन रति ।' तत्प्रकृतिको रस शृङ्गार । तत्र शृङ्गारस्य द्वौ भेदौ सम्भोगो विप्रलम्भश्च । तत्र 'अनुकूलौ निषेवेते यत्रान्योन्यौ विलासिनौ । दर्शन स्पर्शनादीनि स सम्भोगो मुदान्वित ।' शृङ्गारशब्दस्य व्युत्पत्तिस्तावत्—'शृङ्ग हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुक । पुरुषप्रमदाभूमि शृङ्गार इति गीयते' इत्युक्तदिशा स्मरकरम्बितान्त करणयो स्त्रीपुंसयो परस्पर रिरसा रति तत्प्रकृतिकत्व शृङ्गारस्येति बोध्यम् । सम्भोग लज्जाद्यैर्निषिद्धान्यपीष्टदर्शनादीनि यत्र कामिनौ सम्भुञ्जाते स सम्भोग । 'भावो यदा रतिर्नाम प्रकर्षमधिगच्छति । नाधिगच्छति चाभीष्ट विप्रलम्भस्तदोच्यते ।' विप्रलम्भ सम्भोगसुखास्वादलोभेन प्रलभ्यते आत्मा यत्र स विप्रलम्भ । अपरिच्छेद्य परिच्छेत्तुमेतावदेवे कर्तुमशक्य । तत्राद्य सम्भोग परस्परावलोकनालिङ्गनाधरपानपरिचुम्बनाद्यनन्तत्वादपरिच्छेद्य एक एव गम्यते । एक एवेति—विप्रलम्भभिन्नत्वे सति संयोगत्वसामान्यरूपत्वे सति रतिप्रकृतिकत्व सम्भोगत्वमित्येक एव ।

—

नायिकारब्धत्वेन नायकारब्धत्वेन च सम्भोगस्य द्वैविध्यम्। तत्राद्यमाह— 'शून्यं वासगृह०' इति पद्येन। अत्र च नायक आलम्बनम्। शून्यगृहनायकनिद्रादि उद्दीपनम्। मुखनिर्वर्णनचुम्बनादि अनुभाव। लज्जा हास्यलज्जाहर्षादि व्यभिचारिभाव। रति स्थायिभाव। तज्ज्ञे सामाजिके नायकनिष्ठस्यैव रसस्य निष्पत्ति। आलोक्येति लज्जया समानकर्तृकम्।

द्वितीय सम्भोगमुदाहरति—'त्वं मुग्धाक्षि०' इति पद्यम्। अत्र मुग्धाक्षी आलम्बनम्। नयनसौन्दर्यान्नतोन्नतादि उद्दीपनम्। आभाषणचुम्बनादिरनु-भावौ उत्कण्ठाद्यो व्यभिचारिण। रति स्थायिभाव। तज्ज्ञे सामाजिके नायिकानिष्ठरतिविषयकरसनिष्पत्ति।

अपरो विप्रलम्भ। अभिलाष-विरह-ईर्ष्या-प्रवास-शापहेतुक इति पञ्चविध। अभिलाषोऽप्राप्तसमागमयो परस्परप्राप्तीच्छा, विरहोऽननुरागाद्दैवप्रतिबन्धाद्वाऽदिवशाद्वाऽयोग, मानकारणमीर्ष्या, प्रवासो भिन्नदेशस्थिति, शाप एतावत्कालपर्यन्तं तव सयोगो मा भविता इति सिद्धपुरुषवाग्विशेष। एतान्हेतूनाश्रित्य जायमान। तत्राभिलाषहेतुकमाह—'प्रेमार्द्रा प्रणयस्पृश ०' इति पद्यम्। अत्र मालती आलम्बनम्। तद्विलासानुस्मरणमुद्दीपनम् श्वाससाऽनुभाव। तद्व्यङ्ग्यो उत्कण्ठा व्यभिचारिभाव। रति स्थायिभाव। विरहहेतुकमाह—'अन्यत्र व्रजतीति का०' इति पद्यम्। कृतसङ्केतनायकस्य रात्रावनागमने विरहोत्कण्ठिताया वितर्कवर्णनमिदम्। अनागतपतिरालम्बनम्। अनागमनादिरुद्दीपनम्। वितर्कनादिरनुभाव। हहहेति सूचितो विस्मयो व्यभिचारिभाव। रति स्थायिभाव।

ईर्ष्याहेतुकमाह—'सा पत्यु प्रथमापराध०' इति पद्यम्। स्वप्रेयस्या नव-छाया दु समसहमाना काचित् काञ्चिदवाह—तत्र पतिरालम्बनम् अपराध उद्दीपनम्। रोदनाद्यनुभाव। तद्व्यङ्ग्याऽसूया व्यभिचारिभाव। रति स्थायिभाव। प्रवासहेतुकमाह—'प्रस्थान वलयै कृत०' इति पद्यम्। अत्र प्रियतम आलम्बनम्। तत्प्रयाणमुद्दीपनम्। कार्श्यादयोऽनुभावा। चिन्ता व्यभिचारिभाव। रति स्थायिभाव। शापहेतुकमाह—'त्वामालिख्य प्रणयकुपिता०' इति पद्यम्। मेघदूते प्रियामुद्दिश्य मेघं प्रति यक्षस्योक्ति। अत्र नायिका आलम्बनम्। तत्प्रणयकोप उद्दीपनम्। चरणपातेच्छादिरनुभाव। कृतान्तेऽसूया व्यभिचारिणी। रति स्थायिभाव।

व्यङ्गचेष्टादिभिश्चेतोविकासो हास उच्यते । व्यङ्गं वैकृतम् । तेन हासप्रकृतिको हास्यः । यथा—'आकुञ्च्य पाणिमशुचिं०' इति पद्यम् । अत्र ताड्यमानो जिष्णुशर्मा आलम्बनम् । तत्क्रन्दनमुद्दीपनम् । रसाश्रयस्यैतद्धास्यमनुभावः । चापलादिर्व्यभिचारीति । हासः स्थायिभावः ।

'इष्टनाशादिभिश्चेतोवैक्लव्यं शोकशब्दभाक्' । आदिग्रहणादनिष्टाप्तेः । शोकप्रकृतिकः करुणः । यथा—'हा मातस्त्वरितासि०' इति पद्यम् । राजपत्नीमरणे तत्परिजनविलापोक्तिरियम् । अत्र नायिका आलम्बनम् । विपन्ना क्वाचिदीश्वरी सख्योऽस्या । तद्दाहाद्युद्दीपनम् । रोदनमनुभावः । मूर्च्छादयो व्यभिचारिण । शोकः स्थायिभावः । शोकप्रकृतिकः करुणो रसः सामाजिके व्यज्यते ।

प्रतिकूलेषु तैक्ष्ण्यस्य प्रबोधः क्रोध उच्यते । तत्प्रकृतिको रौद्रः । यथा—'कृतमनुमतं दृष्टं०' इति पद्यम् । द्रोणवधक्रुद्धस्याश्वत्थाम्नोऽर्जुनादीन्प्रत्युक्तिः । अत्रापकारिणोऽर्जुनादय आलम्बनम् । अस्त्राद्युद्यमनमुद्दीपनम् । प्रतिज्ञाऽनुभावः । अत्यन्तनैरपेक्ष्यगम्यो गर्वो व्यभिचारी । क्रोधः स्थायिभावः । क्रोधप्रकृतिको रौद्रो रसः सामाजिके व्यज्यते ।

वीररसमुदाहरति यथा—'क्षुद्राः सन्त्रासमेते०' इति पद्यम् । कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते । उत्साहप्रकृतिको वीरः । स च त्रिधा–युद्धवीरो, दानवीरो, दयावीरश्च । अत्र पूर्वोक्तोदाहरणं युद्धवीरस्य । हनुमन्नाटके मेघनादस्योक्तिरियम् । अत्र राम आलम्बनम् । तत्समुद्रबन्धनमुद्दीपनम् । क्षुद्रेषूपेक्षा पराक्रमशालिनि रामे स्पर्धा चानुभावौ । ऐरावतकुम्भचूर्णनस्मृतिः लज्जां दधतीति गम्यगर्वश्च व्यभिचारिणौ । उत्साहः स्थायिभावः तज्ज्ञे सामाजिके उत्साहप्रकृतिको वीररसो व्यज्यते । अपरावूहनीयौ ।

'रौद्रशक्त्या [illegible] जनितं चित्तवैक्लव्यदं भयम्', तत्प्रकृतिको भयानकः । यथा–
[illegible] ' इति पद्यम् । मृगानुसारिणो दुष्यन्तस्योक्तिरियम् अत्र पश्चा-
[illegible]स्यन्दनो राजा चाऽऽलम्बनम् । शरपतनं चोद्दीपनम् । ग्रीवाभङ्गादयोऽनु-
[illegible] । श्रमादयो व्यभिचारिण । भयं च स्थायिभावः । तज्ज्ञे सामाजिके
[illegible]तिको भयानको रसो व्यज्यते ।

जुगुप्सा गर्हणार्थानां दोषमाहात्म्यदर्शनात् । तत्प्रकृतिको बीभत्सः । समु-

दाहरति—'उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं०' इति पद्येन । स्फुटं निम्नविषमम् । स्फिचि ऊरुमूले, पृष्ठपिण्डीम् जङ्घोर्ध्वभागम् । जग्ध्वा भक्षयित्वा । करङ्कः प्रेतशरीरम् प्रेतमस्तकं वा । क्रव्यमपक्वमांसम् । अत्र शव आलम्बनम् । मांसाशनमुद्दीपनम् । नासाकुञ्चनादयोऽनुभावाः । उद्वेगादयो व्यभिचारिभावाः । जुगुप्सा स्थायिभावः । जुगुप्साजनितो बीभत्सो रसस्तज्ज्ञे सामाजिके व्यज्यते ।

'विस्मयश्चित्तविस्तारो वस्तुमाहात्म्यदर्शनात् ।' तत्प्रकृतिकोऽद्भुतः । यथा—'चित्रं महानेष बतावतारः०' इति पद्यम् । वामनं प्रति बलेरुक्तिरियम् । अत्र वामन आलम्बनम् । कान्त्यतिशयाद्युद्दीपनम् । स्तवादयोऽनुभावाः । धृतिहर्षादयो व्यभिचारिणः । विस्मयः स्थायिभावः । विस्मयजनितोऽद्भुतो रसोऽभिज्ञे सामाजिके व्यज्यते ।

'निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः ।' तत्प्रकृतिकत्वात् । यथा—'अहौ वा हारे वा' इति पद्यम् । कश्मीरदेशस्थस्य श्रीमदुत्पलराजस्य पद्यमिदम् । अत्र मिथ्यात्वेन परिभूयमानं जगदालम्बनम् । तपोवनाद्युद्दीपनम् । अहिहाराद्यो समदर्शनमनुभावः । मतिधृतिहर्षा व्यभिचारिभावाः । निर्वेदः स्थायिभावः । तज्ज्ञे सामाजिके शान्तरसनिष्पत्तिर्व्यज्यते ।

अत्र वदन्ति—शान्तो नाम रसस्तावदनुभवसिद्धतया दुरपह्नवः । न चास्य स्थायी निर्वेदो युज्यते । तस्य विषयेष्वलम्प्रत्ययरूपत्वादात्मावमाननरूपत्वाद्वा । शान्ते च निखिलविषयपरिहारजनितामविश्रमानन्दप्रादुर्भावमयत्वानुभावात् । तदुक्तं 'यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् । तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्' इति । अत एव सर्ववृत्तिविरामोऽस्य स्थायीति निरस्तम् । तस्माच्छमोऽस्य स्थायी । निर्वेदादयस्तु व्यभिचारिणः । स च 'शमो निरीहावस्थायामानन्दः स्वात्मविश्रमाद्' इति ।

एषां स्थायिभावानाह—'रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयन्तथा । जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः' इति । स्थायिलक्षणमाह—'विरुद्धा अविरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः । आनन्दाङ्कुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति सञ्ज्ञितः' इति सामान्यलक्षणम् । अवस्थितिश्चैषां सक्सूत्रन्यायेन, फेनबुद्बुदन्यायेन तु व्यभिचारिणामित्यनयोर्भेदः । विशेषलक्षणान्युच्यन्ते ।

प्र० ८—व्यभिचारिभावान् नामतो विलिख्य तेषां लक्षणान्यपि प्रदर्शयत ।

उ० ८—निर्वेद[1] ग्लानि[2]-शङ्का[3]ख्या स्तथाऽसूया[4]-मद[5]-श्रमाः[6] । आलस्यं[7] चैव दैन्यं[8] च चिन्ता[9]-मोहः[10]-स्मृति[11]-धृतिः[12] ॥ व्रीडा[13]-चपलता[14]-हर्ष[15]-आवेगो[16]-जडता[17] तथा । गर्वो[18]-विषाद[19]-औत्सुक्यं[20]-निद्रा[21]-ऽपस्मार[22] एव च ॥ स्वप्नो[23]-विबोधो[24]ऽमर्ष[25]श्चाप्यवहित्थ[26]-मथोग्रता[27] । मति[28] व्याधि[29]-स्तथोन्माद[30]-स्तथा मरण[31]मेव च ॥ त्रासश्चैव[32]-वितर्क[33]श्च-विज्ञेया व्यभिचारिणः । त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः ॥ नामत एव समाख्याता न तु लक्षणतः । तल्लक्षणानि यथा—

तत्वज्ञानापदीर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वावमाननम् । (तत्वज्ञानं-नित्यानित्यवस्तुविवेक)
तत्र चिन्ताश्रुनिःश्वासवैवर्ण्योच्छ्वासदीनताः ।(स्वावमाननम्-आत्मनि तुच्छत्वबुद्धि.)

'चित्तस्य खेदो निर्वेदस्तत्वज्ञानोदयादिभिरि'ति केचित् ॥ १ ॥
रत्यायाससमनस्तापक्षुत्पिपासादिसम्भवा ।
ग्लानिर्निष्प्राणता कम्पकार्यानुत्साहितादिकृत् ॥ २ ॥
अनर्थप्रतिभा शङ्का परक्रौर्यात्स्वदुर्नयात् ।
वैवर्ण्यकम्पवैमुख्यपार्श्वालोकास्यशोषकृत् ॥ ३ ॥
परोत्कर्षाऽक्षमाऽसूया गर्वदौर्जन्यमन्युजा । दोषोद्घोषभ्रूविभेदावज्ञाक्रोधेङ्गितादयः ॥
सम्मोहानन्दसम्भेदः स्खलदङ्गवचोगतिः । मधुपानादिजो ज्ञेयो मदो विविधभावकृत् ॥
उत्तमसत्वः प्रहसति गायति तद्वच्च मध्यमप्रकृतिः ।
परुषवचनाभिधायी शेते रोदित्यधमसत्वः ॥ ५ ॥
खेदो रत्यध्वगत्यादेः श्वासनिद्रादिकृच्छ्रमः । श्रमग्लान्योर्विभेदं तु श्वके कारणकार्यता ॥
श्रमस्यातिशयावस्थामथवा ग्लानिमूचिरे ।
बलस्यापचयो ग्लानिराधिव्याधिप्रकर्षभूः ॥ इत्येके ॥ ६ ॥
आलस्यं श्रमगर्भादेर्जैह्यं जृम्भक्रियादिकृत् ॥ ७ ॥
दौर्गत्यादेरनोजः स्याद्दैन्यं कार्श्यामृजादिमत् ॥ ८ ॥
ध्यानं चिन्ता हितानाप्तेः शून्यताश्वासतापकृत् ।
प्रयत्नपूर्विकान्वेष्यस्मृतिश्चिन्तेति केचन ॥ ९ ॥
मोहो विचित्तता भीतिदुःखावेगानुचिन्तनैः । (विचित्तता चित्तेन ज्ञानाजननम्)
घूर्णनाज्ञानपतनभ्रमणादर्शनादिकृत् ॥ १० ॥

सदृशज्ञानचिन्ताद्यैर्भ्रूसमुन्नमनादिकृत्।स्मृति पूर्वानुभूतार्थविषय ज्ञानमुच्यते॥११॥
अभीष्टार्थस्य सम्प्राप्तौ स्पृहापर्याप्तता धृति•। (स्पृहापर्याप्तता इच्छानिवृत्ति)
सौहित्यवदनोल्लाससहासवचना (प्रतिभा) दिकृत् ॥ १२ ॥
सङ्कोचश्चेतसो व्रीडा वैवर्ण्याधोमुख वकृत्। यद्वा
दुराचारादिभिर्व्रीडा धाष्टर्याभावोऽभिधीयते।वस्त्राङ्गुलीयकस्पर्शभूलेखाधोमुखादिकृत्'॥
(धाष्टर्याभाव चेतस सङ्कोच)
चेतोनिमीलन व्रीडा न्यग्रागस्तत्रादिभि।(इतिकेचित्।१३।न्यग्र वैकृत विकार)
मात्सर्यद्वेषरागादेश्चापलं त्वनवस्थिति। (अनवस्थिति, अविमृश्यकारिता)
'आत्मप्रकाशनपरा चेष्टा चपलतोच्यते' इति केचित्।
तत्र भर्त्सनपारुष्यस्वच्छन्दाचरणादय ॥ १४ ॥
मन प्रसादो हर्ष स्यादिष्टावाप्तिस्तत्रादिभि। यद्वा
मन प्रसादो लाभादेर्हर्षोऽश्रुस्वेदगद्गदा ॥ १५ ॥
'अनर्थातिशयाच्चेतस्यावेग सम्भ्रमो मत' । यद्वा
आवेगो रागविद्रावरसादे सम्भ्रमो मत।
तत्र विस्मरण स्तम्भ स्वेद कम्प स्खलद्गति ॥ १६ ॥
क्रियास्वपाटव जाड्यं चिन्तोत्कण्ठाभयादिभि।
आलस्य तु क्रियाद्वेषो न स्वत्रेति भिदा तत ॥ यद्वा
'अप्रतिपत्तिर्जडता स्यादिष्टानिष्टदर्शनश्रुतिभि।
अनिमिषनयननिरीक्षणतूष्णींभावादयस्तत्र' ॥ १७ ॥
गर्वोऽभिजनलावण्यधनैश्वर्यादिभिर्मद ।
सविलासाङ्गवीक्षाऽविनयावज्ञादिकृत्तु स ॥ यद्वा
गर्वो मदप्रभावश्रीविद्यासत्कुलजन्मभि। अवज्ञा सविलासाङ्गदर्शनाविनयादिकृत्॥
प्रारब्धकार्यासिद्ध्यादेर्विषाद सत्त्वसत्त्वय।(सत्त्वसत्त्वय उत्साहनाश)
नि श्वासोच्छ्वासहृत्तापसहायान्वेषणादय ॥ १९ ॥
औत्सुक्यं वाञ्छितप्राप्तौ कालक्षेपासहिष्णुता।
चित्ततापत्वरास्वेददीर्घनि श्वसितादिकृत् ॥ यद्वा
कालाक्षमत्वमौत्सुक्यं रम्यच्छारतिसम्भ्रमै।
तत्रोच्छ्वासत्वराश्वासहृत्तापस्वेदविभ्रमा ॥ २० ॥

निद्रा व्यापारवैमुख्यमिन्द्रियाणां श्रमादिभि ।
तत्र जृम्भाङ्गभङ्गाक्षिमीलनोच्छ्वसितादय ॥ २१ ॥
(इन्द्रियाणामित्युपलक्षणम्, तेन मनसोऽपि । तेन स्वप्नाद्भेद ।)
आवेशात्यन्तदुःखादेरपस्मारस्तथाविध ।
'मन क्षेपस्त्वपस्मारो ग्रहावेशादिसम्भव ' इति केचित् ॥
(बीभत्सभयानकयोरेव)
क्वचित्तु 'अपस्मार'स्थाने विस्मृति पठिता तथा–
विरोधिभावात्पूर्वस्य प्रस्मृतिर्विस्मृतिर्भवेत् ।
ध्यानजाड्यप्रमोहाऽऽधिपरितापादिकृत्तु सा ॥ (प्रगता स्मृति प्रस्मृति)
स्वप्नो निद्रामुपेतस्य विषयानुभवस्तु य । (विषयानुभव -स्वप्नज्ञानम्)
कोपावेगभयग्लानिसुखदुःखादिकारक ॥ २३ ॥
निद्रापगमहेतुभ्य प्रबोधश्चेतनागम । जृम्भाङ्गभङ्गनयनमीलनाङ्गावलोककृत् ॥
'कोप एव स्थिरतरो ह्यमर्ष इति कथ्यते । यद्वा
अधिक्षेपापमानादेरमर्षोऽभिनिविष्टता । (अभिनिविष्टता स्थिरक्रोध)
तत्र स्वेदशिर कम्पनेत्ररागाङ्गविक्रिया ॥ २५ ॥
लज्जाद्यैर्विक्रियागोपोऽवहित्थाऽऽमन्यविक्रिया ।
व्यापारान्तरसक्त्यवदनानमनादय ॥ २६ ॥ (अवहित्थाऽऽकारगुप्ति)
अधिक्षेपापमानादेश्चित्तचण्डत्वमुग्रता । यद्वा
दृष्टेऽपराधदौर्मुख्यचौर्यैश्चण्डत्वमुग्रता ॥ (चण्डत्वं साहङ्कारतदसहिष्णुत्वम्)
अत्र स्वेदशिर कम्पताडनातर्जनादय ॥ २७ ॥
शास्त्रोपदेशमन्त्राद्यैरर्थनिर्धारणं मति । यद्वा
भ्रान्तिच्छेदोपदेशाभ्यां शास्त्रादेस्तत्त्वधीर्मति ॥
स्मेरता धृतिसन्तोषौ बहुमानस्तथात्मनि ॥ २८ ॥
विरहोद्रेकमनस्तापो व्याधिर्दुःस्थाङ्गतादिकृत् । यद्वा
व्याधयः सन्निपाताद्यास्तेषामन्यत्र विस्तर ।
प्रस्वेदकम्पतापाद्या अनुभावतयोदिता ॥ २९ ॥
सन्निपातग्रहादिभ्य उन्मादश्चित्तविभ्रम । यद्वा
उत्कण्ठाहर्षशोकादेरुन्मादश्चित्तविप्लव ।
(चित्तविप्लव चित्तविभ्रम । आसितमवस्थानम्)

तस्मिन्नस्थानरुदितगीतहासाऽसितादयः ॥ ३० ॥
जीवस्योद्गमनारम्भो मरणं परिकीर्तितम् ।
सम्मोहेन्द्रियसग्लानिगात्रविक्षेपणादिकृत् ॥ यद्वा
रोगाद्यैः प्रागवस्था तु मरणस्य मृतिर्मता ॥ ३१ ॥

(मुख्यमरणस्याल्स्वनोच्छेदेन भावबाधायोगात् । मूर्च्छाऽत्र मरणमित्यन्ये च धान्यश्च सञ्चारित्वाङ्गत्वेन फलवदिति बाध्यम् । स्थाय्यन्तरसाधारणत्वात् । तेऽपि हि क्वचन सञ्चारिणः तदुक्तम्—

शृङ्गारवीरयोर्हासो वीरे क्रोधस्तथा मतः ।
शान्ते जुगुप्सा कथिता व्यभिचारितया पुनः ।
इत्याद्यन्यत् समुन्नेयं स्वयं भावितबुद्धिभिः । इति ॥)

गर्जितादेर्मनःक्षोभस्त्रासोऽत्रोत्कम्पितादयः । यद्वा
औत्पातिकैर्मनःक्षोभस्त्रासः कम्पादिकारकः ।(औत्पातिकैरुत्पातजन्यैः गर्जितादिभिः)
पूर्वापरविचारोत्थं भयं त्रासात् पृथग्भवेत् ॥ ३२ ॥
ऊहो वितर्कः सन्देहे भ्रूशिरोऽङ्गुलिनर्तकः ।
(तर्को 'विचारः सन्देहे' इतिपाठे विचारो विमर्शः ।
तथा च प्राहुः रसगङ्गाधरकाराः 'सन्देहाद्यनन्तरं
जायमान ऊहो वितर्कः' इति । स च निश्चयानुकूलः)

प्र० ९—अथ 'भावस्य' किं लक्षणम् । सोदाहरणं सप्रपञ्चः स प्रतिपाद्यताम् ।

उ० ९—'रसभावतदाभास०' इति सूत्रे भावोऽप्यलक्ष्यक्रमेषु पठितः । स किंरूपः, इति चेत् 'रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाऽञ्जितः । भावः प्रोक्तः' इति । आदिशब्दान्मुनिगुरुनृपपुत्रादिविषया । कान्ताविषया तु व्यक्ता शृङ्गारः ।

रत्यादीनां रसरूपत्वात्, व्यभिचारिणां रसाङ्गत्वानियमेन प्राधान्याभावात्, सात्त्विकानामव्यङ्ग्यत्वादित्यतः क्रमप्राप्तं भावं लक्षयति—'रतिरि'ति । रतिरिति सकलस्थायिभावोपलक्षणम् । देवादिविषयेत्यपि अप्राप्तरसावस्थत्वेपलक्षणम् । तथा शब्दश्चार्थे । तेन देवादिविषया सर्वप्रकारा तथा कान्तादिविषयाऽपि अपुष्टा रतिः हासादयश्च अप्राप्तरसावस्था विभावादिभिः प्राधान्येनाञ्जितो व्यञ्जितो

व्यमिचारी च भाव प्रोक्त भावपदाभिधेय कथित, इति सूत्रार्थं । यदुक्तम्—'रत्यादिश्चेन्निरङ्ग स्याद्देवादिविषयोऽथवा । अन्याङ्गभावभाग्वा स्यान्न तदा स्थायि शब्दभाक्' इति । तदेतदाह वृत्तिकार —'कान्तादिविषया तु व्यक्ता श्रृङ्गार । तत्र देवविषया रतिर्यथा–'कण्ठकोणनिविष्ट०' इति पद्यम् । श्रीमदुत्पलाचार्यप्रणीत परमेश्वरस्तोत्रावलौ पद्यमिदम् । अत्र महादेव आलम्बनम् । ईशपदप्रतिपाद्या व्याहतैश्वर्यमुद्दीपनम् । स्तवोऽनुभाव । धृतिमाहात्म्यस्मरणादयो व्यभिचारिण । अनैरनुमितरसावकरतीना सामाजिकाना तैरेव विभावादिभिर्व्यञ्जिता रतिर्भाव एवेति बोध्यम् । मुनिविषया यथा—'हरत्यघ सम्प्रति हेतुरेष्यत ०' इति पद्यम् । अत्र श्रीकृष्णस्य मुनिविषयाया रतेर्मुनिरालम्बनम् । दर्शनयोग्यताव्यञ्जनमुद्दीपनम् । श्रीकृष्णस्यैयमुक्तिरेवानुभाव । तद्वाङ्गहर्षश्च व्यभिचारी । मुनिविषयकश्रीकृष्णरतिर्हि सामाजिके भावनिष्पत्ति । एवमेव गुरुविषया, नृपविषया, पुत्रविषया च रतिरुदाहरणेषु टीकाया दत्तेष्ववलोकनीयानि ।

कान्ताविषयाऽपुष्टा रतिर्यथा—कुमारसम्भवे 'हरस्तु किञ्चित्परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशि । उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि' प्रधानतया वर्णित व्यभिचारिणमुदाहरति—'जाने कोपराङ्मुखी०' इति पद्यम् । वियुक्तस्य कस्यचित् स्वमित्र प्रत्युक्तिरियम् । अत्र विधि प्रति असूया प्राधान्येन प्रतीयते । जाने शठेत्यनेन निर्णीतापकारि वेनासूयाप्रकर्ष । विधिरत्रालम्बनम् । विधिदौर्जन्यमुद्दीपनम् । शठत्वोक्तिरनुभाव । प्राधान्येन व्यञ्जितोऽसूयारूपो व्यभिचारी भावपदाभिधेय ।

ननु नायिकाल्म्बनस्य तत्कोपोद्दीपितस्य स्वप्नादिदृष्टयनुभावितस्य विप्रलम्भस्य सत्त्वात्तद्ध्वनित्वमेव स्यादत आह—'असूयेति' शठपदगम्या प्राधान्येन प्रतीयते इति । पर्यन्ते तु रसस्यैव प्राधान्यम् । मध्यमव्यङ्ग्यमादायैव ध्वनित्वादिव्यवस्थितेरिति बोध्यम् । नन्वत्र शठेन विधिनेतिवत् 'त्वामालिख्य प्रणयकुपिता०' इति पद्ये क्रूरपदेनासूया प्राधान्येन व्यज्यते इति तत्रापि भावध्वनित्वमेव । तत्कथ विप्रलम्भोदाहरणमिति चेत्र । तत्र 'दृष्टिरालुप्यते मे' इत्यन्तेन विप्रलम्भावगमेऽनन्तर प्रतीयमानाया असूयाया विप्रलम्भाङ्गत्वस्यैवौचित्यात् ।

प्र० १०—रसाभासभावाभासयोरपिस्वरूपं सोदाहरणं विलिखत ।

उ० १०—'तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिताः' इति सूत्रांशेनानौचित्येन प्रवर्तिताः तदाभासा रसाभासा भावाभासाश्चेति तान् लक्षयति । तत्पदेन रसभावयोः परामर्शः न तु संनिहितत्वेन भावस्यैवेत्याह—रसाभासा भावाभासाश्चेति ।' अनौचित्यं हि शास्त्रलोकातिक्रमात् प्रतिषिद्धविषयकत्वादिरूपं सामाजिकसंवेद्यम् । तच्च सहृदयव्यवहारतो ज्ञेयम् यत्र तेषामनुचितमिति धीः । तच्च शृङ्गारे बहुविषयत्वेन उपनायकादिगतत्वेन नायकनायिकान्यतरमात्रविषयत्वेन, गुरुजनगतत्वेन, नास्त्येव । तदुक्तम्—'उपनायकसंस्थायां मुनिगुरुपत्नीगतायां च । बहुनायकविषयायां रतौ तथानुभयनिष्ठायाम्॥ आभासत्वं कथितं तथैव च नियंगादिविषयतायाम्' इति । तथा हि गुर्वाद्यालम्बनतया हास्यस्य, वीतरागाद्याश्रयतया करुणस्य, पित्राद्यालम्बनतया रौद्रवीरयोः, वीरगतत्वेन भयानकस्य, यज्ञीयपशुवसाद्यालम्बनतया बीभत्सस्य, ऐन्द्रजालिकाद्यालम्बनतयाऽद्भुतस्य, चण्डालादिगतत्वेन शान्तस्य चाभासत्वं ज्ञेयम् । अत्र रसाभासो यथा—'स्तुमः कं वामाक्षि०' इति पद्यम् । अत्र बहुषु व्यापारोपादानेन बहुविषया रतिर्व्यज्यते । न चात्र व्यापारस्य बहुविषयत्वमसिद्धम् । एकत्रापि नायकव्यापारसम्भवात् । यत्तु' अनेककर्मपदोपादानमनेकविषयत्वं क्रियाणां प्रकटयति । एकविषयत्वाभिप्राये त्वेकमेव कर्मपदमुपादद्यीतेति तत्तुच्छम् । स्तुमो विध्मो इत्यादीनां भिन्नवाक्यानामेकविभक्त्यन्तपदोपस्थापितेनान्वये तदन्वयितेऽभिमतत्वाति कं कं इत्यादिपदैरुपस्थापने भिन्नकर्मपदैरेवोपस्थापनार्हत्वात् । अत्र मूलः—'तु' शब्देन व्यवच्छेदार्थेन व्यापारस्यानेकविषयत्वं लभ्यते । एवमेकत्र भेदाभिप्रायेऽन्यत्रेऽन्यत्रापि तथैवावगम्यते, बहुपदमनेकपरं वा ।

भावाभासो यथा—'राकासुधाकरमुखी०' इति पद्यम् । सीतामुद्दिश्य रावणोक्तिरियम् । अत्र रत्यव्यभिचारिभूता चिन्ताऽनौचित्यप्रवर्तिता । नायिकाया अननुरक्ततया रतेरनुत्कृष्टत्वेन तद्व्यभिचारिणोऽपि तथात्वात् । एवमन्येऽप्युदाहार्याः ।

प्र० ११—व्याख्यायतां 'भावस्य शान्तिरुदयः सन्धिः शबलता तथा' इति ।

उ० ११—'भावशान्त्यादिरुक्तम्' इत्यत्र भावशान्त्यादिपदार्थनिर्वाचमाह—

'भावस्य शान्ति' रित्यादिना । सन्धिरेककालमेव तुल्यकक्षयोरास्वादः । शबलता तु कालभेदेन निरन्तरतया पूर्वपूर्वोपमर्दिनाम् । न च भावस्य शबलत्वं शान्त्युदयाभ्यामविशेषः । शान्तेरुदयस्य वा एकैकस्यास्वादे तद्भेदद्वयेऽपि न । एवं शान्त्युदयावुपचितशबलावच्छिन्नावेव चमत्कारिणाविति बोध्यम् । स्थायिनि त्वेते न सम्भवन्ति तेषां सन्ततमनिच्छेदात् । तत्र भावस्य शान्तिर्यथा 'तस्याः सान्द्रविलेपन०' इति पद्यम् । अमरुशतके खण्डितायाः स्वनायिकायाः कोपं तच्छान्तिवृत्तान्तं वयस्यं प्रति कथयतो धृष्टनायकस्योक्तिरियम् । अत्र कोपरूपभावस्य शान्तावेव चमत्कारविश्राम । न तु विद्यमानेऽपि प्रसादे दूरे वदु भावाद्यनुल्लेखादिति बोध्यम् । तदेवाहात्र—कोपस्येति शान्तिरिति शेष ।

भावस्योदयो यथा—'एकस्मिन् शयने विपक्ष०' इति पद्यम् । अमरुशतके पद्यमिदम् । अत्र सुरतविषयस्यौत्सुक्यस्योदयश्चमत्करोति न तु सत्यपि कोप शान्ति तदनुभावानुपादानात् । तदेवाह—'अत्रौत्सुक्यस्ये'ति उदय इति शेष । भावस्य सन्धिर्यथा 'उत्सिक्तस्य तपःपराक्रम०' इति पद्यम् महावीरचरितनाटके द्वितीयेऽङ्के सीतापाणिग्रहं श्रीरामस्य परशुरामागमने उक्तिरियम् । अत्र दुर्णयादरणीयपरशुरामजन्यत्वराजिह्वःपूर्वार्धगम्य । हर्षस्तूत्तरार्धगम्य । अनयोस्तुल्यकालमेवास्वाद इति तयो (आवेगहर्षयो) मिलनरूप सन्धि । अत्र परिरम्भणहर्षेण सम्भ्रमप्रियतोस्माहोभयकृतत्वादावेगस्तुल्य इति बोध्यम् । तदेवाह—अत्रावेगहर्षयोरिति । सन्धिरिति शेष । आवेगस्त्वराविशेष । भावशबलता यथा—'क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः' इति पद्यम् । विक्रमोर्वशीये चतुर्थेऽङ्के उर्वशीं दृष्ट्वा पुरूरवस उक्तिरियम् । अत्र 'क्वाकार्य' मित्यादौ वितर्क, भूयोऽपि दृश्येत सुवदनम्, दोषाणामिति मति, कोपेऽपीति स्मृति, किं वक्ष्यन्तीति शङ्का, स्वप्नेऽपीति दैन्य, चेतस स्वास्थ्यमिति धृति, क खल्विति चिन्ता, इत्थं पूर्वपूर्वोपमर्देन प्रतीयमाना शबलता चमत्कारभूमि । ननु भावस्य शान्त्यादिवत्स्थायिनामपि प्रकार सम्भवत्येव, तत्कथं नोक्त इति चेन्न । भावस्यैव तदुक्तेः । भावस्थितेर्भावानिवृत्त्वात् । ननु व्यभिचारिस्थले नियमतो मुख्यस्य रसस्याव स्थान तत्कथं भावोदाहरणमेतत्, कथं वा भावध्वनिश्च, रसादिना तेषां गुणीभावादित्यत आह—'मुख्ये रसेऽपि तेऽङ्गित्वं प्राप्नुवन्ति कदाचन' इति । ते भावशान्त्यादय कदाचन यदा त एकाङ्गित्वेन विवक्ष्यन्ते, राजानुगतविवाह

प्रवृत्तभृत्यवत्। भावशान्त्यादय भावाश्च शान्त्यादयश्चेति द्वन्द्व । भावस्थिति शान्त्यादयश्चेति पाठ सुगम ।

प्र० १२—'अनुस्वानाभसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्थितिस्तु य
शब्दार्थोभयशक्त्युत्थस्त्रिधा स कथितो ध्वनि ।'

कारिकामिमां सम्यग्व्याख्याय तन्निर्दिष्टसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य त्रैविध्यं तत्स्वरूपप्रपञ्चोदाहरणपुर सरं प्रतिपादयत ।

उ० १२—अनुस्वानेति । घण्टाया हन्यमानाया मुख्यशब्दानन्तर योऽयमपरोऽनुरणनरूप शब्द प्रतीयते तद्वल्लक्ष्यक्रमा व्यङ्ग्यस्थितिर्यत्र स शब्दश्चार्थश्चेति शब्दार्थौ च उभय चेति तेषा शक्तिश्च शब्दार्थोभयशक्ति , तस्या उत्थ सत उत्तिष्ठतीति शब्दार्थोभयशक्त्युत्थ त्रिधा त्रिप्रकारको ध्वनिरित्यर्थ । तथा च शब्दशक्तिमूलव्यङ्ग्य अर्थशक्तिमूलव्यङ्ग्य उभयशक्तिमूलव्यङ्ग्यश्चेत्यर्थ ।

शब्दशक्तिमूलत्व चैतदेव यत्तेनैव शब्देन तदर्थप्रतीति न तु पर्यायान्तरेणापि । एतद्वैपरीत्य चार्थशक्तिमूलत्व न स्वभिधया तत्प्रतीतिरिति । एतेन 'अभिधाया यत्र न नियमन तत्रैव भेदो द्रष्टव्य । तन्नियमने तु नाभिधामूलत्व किन्तु व्यञ्जनामूलत्वमेव 'भद्रात्मन०' इतिवदवेदि'ति यत्कश्चिदुक्त तन्नादेयम् । 'भद्रात्मन' इत्यादेरपि एतद्भेदत्वेनेष्टत्वात् । अन्यथा तस्य सर्वभेदबहिर्भावापत्ते । किञ्च शब्दशक्तिमूलव्यङ्ग्योदाहरणेषु । उल्लासयेति, निरमरचिरिति, शनिरिति त्रिष्वप्युदाहरणेषु क्रमेण प्राकरणिकाप्राकरणिकयोरिति व्याख्यानेन, भवानिव्ययनेन तथा च अभीत्यनेन प्रकरणस्याभिधानियामकस्य स्पष्ट वाच्येषामुदाहरणत्व विरुद्ध्येत तस्माद्यथोक्तमेव न्याय्यम् ।

तेषु मध्ये शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यो द्विधा । यथा—'अलङ्कारोऽथ वस्त्वेव शब्दाद्यत्रावभासते । प्रधानत्वेन स ज्ञेय शब्दशक्त्युद्भवो द्विधा'इति । अलङ्कारध्वनिर्वस्तुध्वनिश्चेति द्विप्रकारक । अउक्तनस्यानलङ्कृतवस्तुमात्रस्य वा प्राधान्येन प्रकाशात् । प्राधान्येनेत्यनेन शब्दस्य यत्र प्राधान्यमर्थस्यापि साचिव्यमथवा प्राधान्येनेत्यनेन गुणीभूतव्यङ्ग्यनिरास ध्वनिरित्यर्थ ।

तत्र शब्दशक्तिमूलालङ्कारध्वनिमुदाहरति—उल्लास्येत्यनेन । कालकरवालमहाम्बुवाहम्—काले वैरिमहर्त्ता य करवाल स एव महदम्बु धाराजल वहतीति महाम्बुवाह तम् । यद्वा मह उत्सव स एवाम्बु तद्वाह , अस्योर्जितगर्जितेन—

जरठं कठोरम् ऊर्जितं बलवत्। गर्जितं सिंहनादो यस्य तथाविधेन। अप्राकरणिक- (व्यङ्ग्य) पक्षे येन देवेन मेघाधिपतिना (प्राकरणिके देवो राजा) इन्द्रेण जरठं गम्भीरम् ऊर्जितं यद् गर्जितं गर्जनं तेनोपलक्षितम्। कालकर कृष्णरश्मि वर्षर्तुकाल-सूचकं बालं (वालं) नवीनम् (बवयोरभेदात्) महाम्बुवाहं मेघमुल्लास्य प्रकाश्य रणे अङ्गारादिषु जले पात्यमाने जायमानः शब्दो रणः (प्राकरणिके युद्धभूमौ) तस्मिन् सति धाराजलैः धाराकृतिभिर्जलैः त्रिभुवने रिपूणामर्थात् जलशत्रूणां तेजसा सकलः प्रकृष्टः तापः औष्ण्यं निर्वापितः शमितः इत्यर्थः। अत्र प्रकरणेन प्रथमार्थे (राजार्थे) अभिधाया नियन्त्रणात् तया बोधयितुमशक्यो वस्तुरूपो द्वितीयार्थो (इन्द्रविषयकः) व्यङ्ग्य एव। अत्र 'करवालमुल्लास्यै' ताव-न्मात्रे वक्तव्ये यदेतादृशशब्दप्रयोगस्तस्यासम्बद्धार्थकता मा प्रसज्यतामित्यप्राकर-णिकैरिन्द्रवारिवाहादिभिः प्राकरणिकानां राजकरवालादीनामुपमानोपमेयभावे कवितात्पर्यमित्युपमाऽलङ्कारो व्यङ्ग्यः। स च शब्दशक्तिमूलः। पर्यायान्तरेण भूपाविना तदर्थोपस्थितौ तदप्रतीतेः। एवमग्रेऽप्यूह्यम्। यथा 'तिग्मरुचिरप्र-ताप०' इत्यत्र तिग्मः रुचिरश्च प्रतापो यस्येति प्राकरणिकार्थः। तिग्मरुचिः। अप्रतापः इति एवं क्रमेण त्रिषु अनिशाकृत्, मधुः अलीलः, मतिमान् अतत्व-वृत्तिरिति एकैकपदस्य द्विपदत्वे विरोधाभासो व्यङ्ग्यः। अत्रोदाहरणे पदभेदेन विरोधाभासो द्योतितः। पदाभेदेऽपि विरोधाभासो यथा—'अमितः समितः' इत्यत्र। अत्र विचार्यते किं विरोधस्य सर्वत्र व्यङ्ग्यत्वमेव, नेत्युच्यते। अपि-शब्दादेर्विरोधव्यञ्जकस्य भावे सति वाच्यत्वम्, तदभावे व्यङ्ग्यत्वम् इति। अधुना व्यतिरेकालङ्कारध्वनिरुदाह्रियते यथा 'निरुपादानसम्भारे'ति। अत्र चित्रं नाना-कारमालेख्यं च कला चन्द्रस्य षोडशो भागः। अन्यत्र कौशलञ्च अत्रोपादानैः तूलिकाद्युपकरणैः भित्तावेव चित्रपदादिष्वेनालेख्यकारिभ्यः कलावद्भ्यो जगच्चित्रं नानाकारम् अभित्तावेव शून्ये एव तन्वतः शूलिनो व्यतिरेको व्यङ्ग्यः। अत्र चित्रकलाशब्दयोः परिवृत्त्यसहत्वेन शब्दशक्तिमूलता।

अथ 'वृत्तिगतवाक्यमलङ्कार्यस्यापि ब्राह्मणश्रमणन्यायेनालङ्कारता' इति व्या-ख्याति। ननूदाहृतेषूपमादीनां प्राधान्यं न वा प्राधान्यं चेत् कुतस्तेषामलङ्कार-त्वम्। अन्यानलङ्करणात्। अप्राधान्ये तु नोऽस्य काव्यस्य ध्वनित्वम्। व्यङ्ग्यस्या-प्राधान्यात्'। इति चेन्नैवम्। पूर्वमयमलङ्कार आसीदित्येतावताऽलङ्कारव्यप-

— — —

देशात्। यथेदानीं श्रमणः बौद्धसंन्यासी पूर्वं ब्राह्मण आसीत् इति स ब्राह्मण इति कथ्यते तथा। न चैवं व्यपदेशसमर्थनेऽप्यलङ्कारध्वनित्वं न समर्थितमिति चेन्न। अलङ्कारपदेन तद्योग्यताया विवक्षितत्वात्। नचैवं रसादिध्वनावपि अलङ्कारध्वनित्वप्रसंगः संलक्ष्यक्रमस्यैव तादृशस्य तथाभिप्रेतत्वात्। वस्तुतस्तु प्राधान्याप्राधान्ये व्यङ्ग्यस्य वाच्यापेक्षयैव, न तु रसापेक्षयापि। तदपेक्षया सर्वत्र गुणीभावात्। तथा चोपमादीनां रसाङ्गतयाऽलङ्कारत्वम्, वाच्यापेक्षया प्राधान्यं चेति न दोषलेशावकाशः।

एवं शब्दशक्तिमूलालङ्कारध्वनिमुदाहृत्याधुना शब्दशक्तिमूलवस्तुरूपध्वनिमुदाहरति, यथा—'पंथिअ' इति।

पथिक नात्र स्रस्तरमस्ति मनाक् प्रस्तरस्थले ग्रामे॥
उन्नतपयोधरं प्रेक्ष्य यदि वससि तदा वस—इति छाया।

स्रस्तरम्—(१) शय्यास्तरणम्; (२) शास्त्रम् कामशास्त्रमिति वा।
प्रस्तरस्थले—(१) पाषाणप्रचुरे स्थले, (२) पाषाणानां तत्त्वेनाध्यवसितानां मूर्खाणां स्थले तन्मये ग्रामे।

अत्र शास्त्राभावादाकारेङ्गितज्ञानधिकरणे ग्रामे, सति चैवंविधे उद्दीपने मेघे श्लेषमर्यादया उन्नतस्तनदर्शने च को नाम उपभोगक्षमोऽन्यत्र गन्तुमर्हतीति वक्त्रभिप्रायो व्यञ्जनया प्रकाशते इत्यर्थः। तत्र पयोधरेति शब्दशक्तिमूलमेव। तथा—'शनिरशनिरि'ति। अशनिर्वज्रः। न शनिः। अनुदार—अनुगता दाराः यस्य। न उदारः इति। अत्र प्रथमार्धे शनिरशनिश्चेत्यनेन विरुद्धावपि त्वदनुवर्तनार्थमेककार्यं कुरुतः' इति वस्तु व्यज्यते। न तु विरोधालङ्कार। शनिरशनिरित्यनयोः सामान्याधिकरण्याभावात्। विरोधस्य तत्रैव विश्रान्तेः। द्वितीयार्धे तु नोदाहरणम्। तत्र 'च' शब्दस्य अप्यर्थत्वे विरोधस्य वाच्यत्वात्। समुच्चयमात्रार्थत्वे विरोधस्यैव व्यङ्ग्यत्वादिति।

इत्थं शब्दशक्तिमूलं द्विविधं ध्वनिं निरूप्येदानीमर्थशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यं द्वादशविधत्वेन विभजते। तथाच कारिकाद्वयम्—

अर्थशक्त्युद्भवोऽप्यर्थो व्यञ्जकः सम्भवी स्वतः॥
प्रौढोक्तिमात्रात्सिद्धो वा कवेस्तेनोम्भितस्य वा।

वस्तु वाऽलङ्कृतिर्वेति षड्भेदोऽसौ व्यनक्ति यत् ॥
वस्त्वलङ्कारमथवा तेनायं द्वादशात्मकः ।

वस्तु वाऽलङ्कृतिर्वेति । (१) स्वतः सम्भवी, न केवलं भणितिनिष्पन्नशरीरोऽपि तु बहिरपि औचित्येन प्रतीयमानः सम्भाव्यमानः । (२) प्रौढोक्तिमात्रसिद्धः बहिरसन्नपि वस्तुप्रतिभामात्रेण तथा निर्मितः, (३) कविनिबद्धेन वक्त्रा तथा निर्मित इति त्रिधा । अयमर्थः । व्यञ्जकोऽर्थस्त्रिधा । (१) स्वतः सम्भवी (२) कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्धः, (३) कविनिबद्धनायकादिवक्तृप्रौढोक्तिमात्रसिद्धश्चेति । अत्र प्रौढोक्तिः चमत्कारानुगुणोक्तिर्ज्ञेया । एवं त्रिविधोऽपि प्रत्येकं वस्तुमात्रमलङ्कृतिर्वेति षड्विधो व्यञ्जकः । एतेषां षण्णां व्यङ्ग्यमपि प्रत्येकं वस्तु वाऽलङ्कृतिर्वेति द्वादशभेदा भवन्ति ।

तत्र स्वतः सम्भविन्यर्थे भेदचतुष्टये । (१) वस्तुना वस्तुनो व्यक्तिर्यथा—अलसशिरोमणीत्यत्र । इदं पद्यं प्राकृतं, तस्य छाया—'अलसशिरोमणिर्धूर्तानाम् प्रिमः पुत्रि धनसमृद्धिमयः । इति भणितेन नताङ्गी प्रफुल्लविलोचना जाता ।' अत्रा ऽलसत्वेन प्रवासे नायिकान्तरगृहं च गन्तुमनिच्छुः, धूर्तत्वेन रतेऽवनाहतगुणो, धनसमृद्धिमयतया कृपणः सुखी चेति निर्धार्य यत्प्रफुल्लनयनत्वं हर्षव्यञ्जकं वस्तु तेनान्याभामनाकर्षणीय इति, ममैवोपभोग्य इति वस्तु व्यज्यते (२) वस्तु नाऽलङ्कारस्य व्यक्तिर्यथा—'धन्याऽसि या कथयसी'ति उदाहरणम् । रतिकालीन स्वप्रियालाप कथितवती काञ्चिदुपहसन्त्या त्वमिदानीं स्वरतिवार्त्तां कथयति सखीप्रेरितायाः उक्तिरियम् । अत्र वाच्येन सखीं प्रति धन्यत्वोक्तिरूपेण वस्तुना स्वस्य महानन्दप्राप्तिसूचनद्वारा 'त्वमधन्ये'ति व्यतिरेकालङ्कारो व्यज्यते । (३) अलङ्कारेण वस्तुनो व्यक्तिर्यथा—'दर्पान्धगन्धगज' इत्युदाहरणम् । अत्र 'दर्पान्धगन्धगजकुम्भकपाटकूटसङ्क्रान्तिनिघ्नघनशोणितशोणशोचि' इति पदस्यैव विग्रहः—दर्पेण मदेनान्धः मदोद्रिक्तो यो गन्धगजः, तस्य कुम्भयोः गण्डस्थलयोः कपाट विशालतया दुर्भेद्यत्वात्कपाटमिव मध्यभागः तस्य कूटमग्रभागः तदेव कठिनत्वात् कूटः लोहमुद्गर इव तत्र सङ्क्रान्त्या सम्बन्धेन (पतनेन) सम्यक् प्रविशनेन वा निघ्नं दृढसम्बद्धं घनं निबिडं यत् शोणितं रुधिरं तेन शोणा रक्ता शोचिः कान्तिर्यस्य यत्र वा तादृशः इत्यर्थः । अत्र 'कालीकटाक्ष इव कृपाणो व्यलोकि' इत्युपमा, न पुनरुत्प्रेक्षा सम्भावनाविरहात् । शोणशोचि—कृपाणकान्त्योर्बिम्बप्रति

बिम्बभावेन समानधर्मत्वात् सा च स्वतःसम्भविनी, सादृश्यस्य लोकेऽपि सत्त्वात् तया चोपमया 'सकलरिपुचयः क्षणात्करिष्यते' इति वस्तु व्यज्यते। (४) अलङ्कारेणालङ्कारस्य व्यक्तिर्यथा—'गाढकान्तदशने'त्युदाहरणे। अत्र ओष्ठविषयकयो-र्दशनमोचनयोर्विरोधः। यो हि निजमप्यधरं दशति स कथं परेषामधरान्मोचयतीति स्वतःसम्भविना विरोधाभासालङ्कारेण प्रकृतयोः स्वाधरदशनशत्रुव्यापादनयोरेककालरूपैकधर्मसम्बन्धेन तुल्ययोगितालङ्कारो व्यज्यते। एवं मम राज्ञो दन्तक्षतया अन्यस्यापि नृपवधूजनस्यापि क्षतिर्निवर्ततामिति नृपबुद्धि-रुत्प्रेक्ष्यते इत्युत्प्रेक्षालङ्कारोऽपि व्यज्यते। एषु चतुर्षूदाहरणेषु व्यञ्जकोऽर्थः स्वतः सम्भवी इति।

कविप्रौढोक्तिसिद्धे व्यञ्जकेऽर्थे भेदचतुष्टये १ वस्तुना वस्तुनो व्यक्तिर्यथा 'कैलासस्य प्रथमशिखरे' इत्युदाहरणम्। व्यङ्ग्यं दर्शयति—अत्र कविप्रतिभामात्र-निष्पन्नाद् यशसः श्रवणप्रवेशाद् विनिर्गीसम्भावनया कर्णे हस्तावर्तनरूपेण कविप्रतिभामात्रनिष्पन्नेन वस्तुना येषां जडानामपि दिग्गजानामर्थाधिगम-गीतार्थज्ञानं नास्ति तेषामप्येव श्रैयमूर्तत्वाद्विबुद्धिजननेन स्वस्कीर्तिभ्रमं करोतीति वस्तुमात्रं व्यज्यते। अत्र च कीर्तिश्रवणानन्तरं कर्णे हस्तावर्तनं हस्तिनो न स्वतः-सम्भवि किन्तु कविसम्प्रदायात् कविना वर्णितमिति कविप्रौढोक्तिसिद्धत्वम्। २ कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्धेन वस्तुनाऽलङ्कारस्य यथा—'केसेसु बलामोडिये' इत्यादि प्राकृतश्लोकः। तस्य छाया—केशेषु बलात्कारेण तेन च समरे जयश्रीर्गृहीता। यथा कन्दराभिर्विधुरास्तस्य दृढं कण्ठे संस्थापिता इति। तेन पराजिताः शत्रवो गुहास्वेव तिष्ठन्तीति भावः। अत्र कन्दराभिः कण्ठे स्थापिता इत्येवंरूपेण कविप्रतिभामात्र-सिद्धेन वस्तुना केशग्रहणावलोकनोद्दीपितमदना इव कन्दरास्तद्विधुरान् कण्ठे गृह्णन्ति इत्युत्प्रेक्षा। एकत्रैव सङ्ग्रामे विजयदर्शनात्तस्यारयः पलाय्य गुहासु तिष्ठन्ति इति काव्यलिङ्गम्, न पलाय्य गतास्तद्वैरिणोऽपि तु ततः परामवं सम्भाव्य ता कन्दरा एव न तास्त्यजन्ति इति अपह्नुतिश्च अलङ्कारा व्यज्यन्ते।
३ कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्धेनालङ्कारेण वस्तुनो व्यक्तिमुदाहरति यथा—'गाढालिङ्गणम्' इत्यादि। छाया 'गाढालिङ्गनरभसोद्यते दयिते लघु समपसरति। मनस्विन्या मानः पीडनभीत इव हृदयात्' इति। अत्र पीडनभीतरिवेत्युत्प्रेक्षयाऽलङ्कारेण प्रत्यालिङ्गनादि जृम्भते इति वस्तु व्यज्यते। ४ अत्रैवालङ्कारेणालङ्कारस्य यथा—'जा ठेरं व हसन्ती' इति प्राकृतपद्यम्। अस्य छाया—

या स्थविरमिव हसन्ती कविवदनाम्बुरुहबद्धविनिवेशा ।
दर्शयति भुवनमण्डलमन्यदिव जयति सा वाणी ॥

अत्र 'जा ठेरं व हसन्ती' इत्युत्प्रेक्षालङ्कारेण चमत्कारैककारणं नवं नवं जगत् अम्बुजासना (जडजलामिति डलयोरभेदात्) कविवदनस्था (अजडासना) निर्मिमीते इति वाण्या ब्रह्मणो व्यतिरेकः प्रकाश्यते । यद्यप्युत्प्रेक्षा विनापि व्यतिरेकोऽयं प्रकाशते नियतिकृतनियमेत्यादिवत्, तथापि न स्फुटो भवतीति । यद्वा तावन्मात्रस्य व्यञ्जकत्वेऽपि उत्प्रेक्षाया अङ्गत्वं न विहन्यते इति । यद्वृत्तौ चमत्कारैककारणं नवं नवं जगत् अजडासनस्था इत्युक्तं तत्र स्थविरमिव हसन्ती त्यनेन चमत्कारैककारणत्वाशलाभः । अन्यदिवेत्युत्प्रेक्षया नवनवत्वलाभः । कविवदनेत्यादिना अजडासनस्थेत्यशलाभः । एषु पूर्वोक्तचतुर्षूदाहरणेषु कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नो व्यञ्जकः ।

एवं कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नभेदचतुष्टयमुदाहृत्य कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रसिद्धव्यञ्जकार्थस्य ध्वनेश्चतुर्षु भेदेषु मध्येऽधुना वस्तुना वस्तु व्यज्यते—यथा 'जे लङ्कागिरिमेहलासु' इति प्राकृतपद्यमुदाहृतम् । तस्य छाया—ये लङ्कागिरिमेखलासु स्खलिताः सम्भोगखिन्नोरगी स्फारोत्फुल्लफणावलीकवलने प्राप्ता दरिद्रत्वम् । त इदानीं मलयानिलाः विरहिणीनिःश्वाससम्पर्किणो जाता झटिति शिशुत्वेऽपि बहलतारुण्यपूर्णा इव ॥ इति ॥ ये वाताः लङ्कागिरेर्हेममयस्य नितम्बेषु सर्पं प्राप्ताः स्खलिताः सम्भोगेन श्रान्ताभिः सर्पिणीभिः वितता ऊर्ध्वप्रसृता या फणापङ्क्तिः तया कवलने भक्षणे सति क्षीणा व प्राप्ताः (स्वल्पावशिष्टाः) इदानीं विरहिणीनिःश्वासैरीषत्सम्बद्धा एव प्राप्तैश्वर्याः शीघ्रमेव शिशुत्वेऽपि तारुण्येन पुष्टावयवा इव जाता इत्यर्थः । अत्र वस्तुना वाच्यार्थरूपेण 'निःश्वासैः प्राप्तैश्वर्या वायवः किं किं न कुर्वन्ति' इति वस्तु व्यज्यते । २ वस्तुनाऽलङ्कारस्य व्यक्तिर्यथा-'सहि विरइऊण' इति प्राकृतपद्यमुदाहरणम् । छाया—सखि विरचय्य मानस्य मम धीरत्वेनाश्वासम् । प्रियदर्शनविश्रृङ्खलक्षणे सहसेति तेनापसृतम् इति । निमिति मानं त्यक्तवतीति वदन्तीं सखीं प्रति नायिकाया उक्तिरियम् । धैर्येण मम मानस्याश्वासनं कृत्वा प्रियदर्शनक्षणे सहसाऽपसृतम् इति वाच्येन वस्तुनाऽकृतेऽपि प्रियप्रार्थने सा प्रसन्ना इति कारणाभावेऽपि कार्योत्पत्तिरूपविभावनाऽलङ्कारः । ननु प्रियदर्शनसौभाग्यबलं धैर्येण सोढुं न शक्यते इति चोत्प्रेक्षालङ्कारश्च व्यज्येत ।

३ अत्रैवालङ्कारेण वस्तु व्यज्यते यथा 'ओल्लोलकर०' इति प्राकृत पद्यमुदाहरणम्। छाया-आर्द्रार्द्रकरजरदनक्षतं तव लोचनयोर्मम दत्तम्। रक्ताशुक प्रसाद कोपेन पुनरिमे नाक्रान्ते इति।

भर्तरि सपत्न्या कृत नखक्षतादि दृष्ट्वा कोपारक्तनयना भर्तुं प्रश्नमुत्तरयति तत्र। अत्र किमिति कुपिते लोचने वहसीति प्रश्नेऽथनादुत्तरालङ्कारेण न केवलमार्द्रक्षतानि गोपायसि तेषामह प्रसादपात्रमपि जाता इति वस्तु व्यज्यते, कोपेन पुनरिमे नाक्रान्ते इति अपह्नुतिसहितेन वस्तुव्यक्ति। ४ अत्रैवालङ्कारेणालङ्कारस्य यथा-'महिलासहस्सभरिए' इति प्राकृतपद्यमुदाहरणम्। छाया-महिलासहस्रभरिते तवहृदये सुभग सा अमान्ती। अनुदिनमनन्यकर्मा अङ्ग तन्वपि तनयति अत्र विरहकृशा नायिका नायकायावेदयन्त्या सख्या उक्तिरियम्। अत्रामान्तीत्यत्र महिलासहस्रभरितत्व हेतु। तनूकरणे च अमान्तीत्व हेतु। अतो महिलासहस्रभरितत्वात्तव हृदि स्थान न लभ्यते, ततोऽङ्ग तन्वपि तनयतीति हेत्वलङ्काराभ्या तनोस्तनूकरणेऽपि तव हृदये न वर्तते इति कारणसत्त्वेपि कार्यानुपपत्तिरूपो विशेषोक्तिरलङ्कारो ध्वन्यते। एषु चतुर्पूदाहरणेषु कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रसिद्धव्यञ्जकार्थं। एवम् अर्थशक्त्युद्भवध्वनेर्द्वादश भेदा।

एव द्विविध शब्दशक्तिमूल द्वादशविधमर्थशक्तिमूल च सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य निरूप्येदानीमेकविधमुभयशक्तिमूल निरूपयति 'अमन्दचन्द्राभरणे'ति उदाहरणेन। शब्दश्चार्थश्च शब्दार्थौ तद्रूप यदुभय तद् तच्छक्त्युद्भव एको वस्तुनाऽलङ्काररूप इति कारिकार्थं। ननु शब्दशक्तिमूलेऽप्यर्थस्य, अर्थशक्तिमूलेऽपि शब्दस्य व्यञ्जकत्वमस्तीति उभयशक्तिमूलकत्व सर्वथैवास्तीति चेन्न। तत्र तयोर्गुणप्रधानभावेन व्यञ्जकत्व प्रतिपादितम्। अत्र तु द्वयोरेव प्राधान्येन व्यञ्जकत्वमित्युभयशक्तिमूलत्वम्। तथा हि शब्दस्य परिवृत्तिसहत्वासहत्वाभ्या शब्दार्थोभयशक्तिमूलत्वमिति ज्ञेयम्। अत्रोदाहरणे अतन्द्र स्फुरद्रूप चन्द्र एवाभरण भूषण यस्या सा अत एव सम्यगुद्दीपित प्रबलीकृतो मन्मथो यया सा, तारका नक्षत्राणि तरला स्वल्पा यस्या सा, श्यामा रात्रि क जन सानन्द न करोति अपि तु सर्वमेवानन्दयतीति रात्रिपक्षेऽर्थ। अतन्द्रा सुरतादावालस्यरहिता सा चासौ चन्द्र कर्पूर सुवर्णनिर्मितशिरोभूषणविशेषो वा आभरण यस्या सा। मुदा हर्षेण सहिता समुद्दीपितो दीप्तिं प्रापितो मन्मथो यया सा दीपितमन्मथा

तारका अक्षिगतकृष्णकनीनिका तरला चञ्चला यस्याः सा। यद्वा तारकावत् नक्षत्रवद्दीप्तः तरलो हारमध्यमणिर्यस्याः सा। एवम्भूता श्यामा षोडशवार्षिकी नायिका कं पुरुषं सानन्दं न करोतीति नायिकापक्षेऽर्थः।

अत्रैवंरीत्याऽर्थद्वयप्रतीतौ स्त्रीविशेष इव रात्रिरिति, ज्यौत्स्नी रात्रिरिव नायिकेति वा उभयत्रोपमालङ्कारः प्रतीयते व्यज्यते, तदाह—'अत्रोपमा व्यङ्ग्ये'ति। अत्र च चन्द्रतारकातरलश्यामाशब्दाः परिवृत्त्यसहाः। पर्यायान्तरोपादानेऽपरार्थबोधासम्भवात्। अतन्द्राभरणसमुद्दीपितमन्मथशब्दाश्च परिवृत्तिसहाः अनिद्राभूषणसमुत्तेजितकामादिपर्यायान्तरैरपि तदर्थप्रतीतेरिति उभयशक्तिमूलत्वमिति।

प्र० १३—निम्नोद्धृतपद्यानां ध्वनिभेदं प्रदर्श्य पद्यव्याख्यानप्रसङ्गेन भवन्मतं सोपपत्तिकं समर्थ्यताम्।

चतुर्थोल्लासे पद्यसंख्या ७४, ६६, ८० ८१, ८४, ८७, ९१, ९९, १००, १०९, ११०।

उ० १३—अत्र पद्य ७४ यथा—

खलववहारा दीसन्ति दारुणा जहवि तहवि धीराणम्।
हिअअवअस्सबहुमआ ण हु ववसाआ विमुज्झन्ति॥

अस्य छायैवम्—'खलव्यवहारा दृश्यन्ते दारुणा यद्यपि तथापि धीराणाम्। हृदयवयस्यबहुमता न खलु व्यवसाया विमुह्यन्ति' इति।

इदं पद्यं पदप्रकाश्यत्वे अविवक्षितवाच्यध्वनिभेदमत्यन्ततिरस्कृतवाच्यमुदाहरति। पद्यव्याख्यानञ्चैवम्—

यद्यपि खलानां धूर्तानां शठानां व्यवहाराः चरितानि दारुणाः दुःखदाः अभ्येष्टप्रतिरन्धकाः दृश्यन्ते तथापि सदर्थग्राहितया हृदयमेव वयस्यः मित्रं तेन बहुमताः अनुमोदिताः धीराणां महतां व्यवसायाः उद्योगाः न खलु विमुह्यन्ति न प्रतिबद्धा भवन्तीत्यर्थः, यद्वा न विरामं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः।

अत्र अचेतने व्यवसाये मुख्यो विमोहः बाधितः सन् कार्यकारणभावसम्बन्धात् प्रतिबन्धरूपं विरामरूपं वार्थं लक्षयति। तेन च सर्वथा इष्टकार्यकारित्वं व्यङ्ग्यम् लक्षणलक्षणाफलम्। तथा च विमुह्यन्तीति पदमत्यन्ततिरस्कृतवाच्यं सद् व्यञ्जकम्। अत्र विमुह्यन्तीति पदस्यैकस्यैव व्यञ्जकतेति पदप्रकाश्यत्वम्।

'उपकृतं बहु तत्र' इति पद्ये तु सर्वेषां पदानां व्यञ्जकत्वमिति तत्र वाक्यप्रकाश्यत्वमिति भेदः ।

७९ तत्पद्यं यथा—

मुग्धे मुग्धतयैव नेतुमखिलः कालः किमारभ्यते,
मानं धत्स्व धृतिं बधान ऋजुतां दूरीकुरु प्रेयसि ॥
सख्यैवं प्रतिबोधिता प्रतिवचस्तामाह भीतानना,
नीचैः शंस हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोष्यति ॥

न केवलं सर्वनामपदानामेव रसादिव्यञ्जकता किं त्वन्येषामपीति ध्वनयन् अनेन पद्येनात्र सम्भोगेऽसंलक्ष्यक्रमध्वनिमुदाहरति—विदितरहस्या मानोपदेशं कुर्वाणा सखीमगणयन्त्या भर्तरि प्रणयविनयवत्या नायिकाया भङ्ग्यन्तरेण सा प्रत्युक्तिरियम् । हे मुग्धे उपदेशाग्राहिणि त्वयाऽखिलः समग्रः कालः मुग्धतयैव यथोचितानाचरणेनैव मानचातुरीशून्यतयैव वा नतु यापयितुं किं किमिति आरभ्यते किंतु मानं धत्स्व धारय धैर्यं बधान प्रेयसि प्रियतमविषये ऋजुतां सरलतां त्यज दूरीकुरु । इत्येवं सख्या प्रतिबोधिता मुहुर्मुहुरुपदिष्टा अकृत्रिमानुरागा नायिका भीतानना भयजनितवैवर्ण्ययुक्तवदना सती तां प्रतिबोधयन्तीं सखीं प्रतिवचः उत्तरमाह । उत्तरं दर्शयति—हे सखि त्वं नीचैर्मन्दं शंस कथय । हि यस्मात् प्राणेश्वरः प्राणाना तदायत्ततयाऽजीवितसर्वस्वायमानः अत एव मे मम हृदि हृदये स्थितो विद्यमानः श्रोष्यति आकर्णयिष्यति । ननु शङ्कायाम् । अत्र सख्या अपरिहार्यवाक्यतया नीचैः शंसनस्य विधानं कृतम्, नैव शंसेति च नोक्तम् । अत्र भीताननेति पदं नीचैः शंसनविधानस्य युक्ततां प्रकाशयन् प्राधान्येन भयप्रतिपाद्याकृत्रिमानुरागेण रागातिशयं सम्भोगातिशयं वा (शृङ्गाररसं) व्यञ्जयतीत्यर्थः ।

पद्य ८० ८१ यथा—

तदप्राप्तिमहादुःखविलीनाशेषपातका । तच्चिन्ताविपुलाह्लादक्षीणपुण्यचया तथा ।
चिन्तयन्ती जगत्सूतिं परब्रह्मस्वरूपिणम् । निरुच्छ्वासतया मुक्तिं गताऽन्या गोपकन्यका ॥

अत्र युग्मके स्वतःसम्भविना वस्तुना अलङ्कारस्य व्यक्तिमुदाहरति—इदं संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यमर्थमूलकम् । अधुना पद्यस्य व्याख्यानम् यथा— अन्या उक्ताभ्यो भिन्ना काचित् गोपकन्यका निरुच्छ्वासतया निरुद्धप्राणवायुतया परब्रह्म-

स्वरूपिणं सच्चिदानन्दरूपं जगतः संसारस्य सूतिरुत्पत्तिः यस्मात्तादृशं श्रीकृष्णं चिन्तयन्ती भावयन्ती सती मुक्तिं मोक्षं गता। कीदृशी, तस्य कृष्णस्याप्राप्त्या वियोगेन यन्महादुःखं तेन विलीनानि नष्टानि अशेषाणि पातकानि यस्याः सा पुनः तस्य श्रीकृष्णस्य चिन्तया भावनया ध्यानेन यो विपुलो महान् आह्लाद आनन्दस्तेन क्षीणो नष्टः पुण्यस्य चयः समूहो यस्याः सा इति वाच्यार्थः। अत्र जन्मसहस्रैरुपभोग्यानि दुष्कृतसुकृतयोः फलानि वियोगदुःखचिन्तनाह्लादाभ्यां कयाऽप्यनुभूतानीत्युक्तम्। एवञ्च दुष्कृतसुकृतफलराशितादात्म्येनाध्यवसितौ भगवद्वियोगदुःखचिन्तनाह्लादौ प्रतीयेते इति निगीर्याध्यवसानरूपातिशयोक्ति-द्वयमशेषचयपदाभ्यां द्योत्यते।

पद्यं ८४ यथा—

राईसु चन्दधवलासु ललिअमप्फालिऊण जो चावम्।
एकच्छत्तं विअ कुणइ भुअणरज्जं विजंभंतो॥

अस्य छाया—रात्रीषु चन्द्रधवलासु ललितमास्फाल्य यश्चापम्।
एकच्छत्रमिव करोति भुवनराज्यं विजृम्भमाणः॥

अत्रार्थमूलसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्ये कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरे व्यञ्जकेऽर्थे वस्तुना वस्तु व्यज्यते। मानिनीं प्रति माननिर्वाहः कठिनः इत्येतद्बोधिका सख्युक्तिरियम्।

व्याख्या—यः प्रकृतः स्मरः चन्द्रेण धवलासु उज्ज्वलासु रात्रीषु ज्यौत्स्नी-ष्विति यावत्। ललितं सुकुमारमेव कुसुममयमेव (न तु कमठपृष्ठकठोरम्) चापं धनुः आस्फाल्यैव, नतु बाणादि संधाय भुवनानां राज्यम् एकमेव छत्रं यत्र तथा-भूतमिव अद्वितीयमिवेति यावत् करोति। अत एव विजृम्भमाणः विस्फुरमाणः अतिसाहंकारतया वर्तमान इत्यर्थः। अत्र चापास्फालनेन एकच्छत्रमिव भुवनराज्यं करोतीति कविप्रौढोक्तिसिद्धेन वस्तुना स्वशासकानङ्गपारवश्येन कुशलैः कामिभि-र्जागद्भिः उपभोगपरैरेव निशाऽतिवाह्यते इति वस्तु भुवनराज्यपदेन प्राधान्येन व्यज्यते। कामिनाम् इत्यत्र कामिन्यश्च कामिनश्चेति कामिनः। 'पुमान् स्त्रिया' इत्येक-शेषः। न कोऽपि तदादेशपराङ्मुखः कामाज्ञाभञ्जकः आसीदिति हेतोः उपभोग-परैरुपभोगासक्तैरेव निशा नीयते इत्यर्थः। अखण्डाज्ञाविषयो हि साम्राज्यम्। अत्र भुवनराज्यपदस्य प्राधान्यात् पदप्रकाश्यता। कैलासस्य प्रथमशिखरे इत्यादौ तु नेदृशं किमपि पदमिति वाक्यप्रकाश्यतैवेति भेदः। अत्र 'एकच्छत्रमिव'

इवार्थं उत्प्रेक्षा सा च न व्यञ्जनोपयोगी प्रत्युत तत्परित्यागेऽतिशयो गम्यत निर्धारितार्थप्रतीते ।

अत्र वृत्तेर्व्याख्यानम् यथा—असौ प्रजापालनपरो राजा स्मर तेभ्य तदर्थम् कन्दर्पप्रजारूपकामुकभी यर्थमिति यावत् । तादर्थ्ये चतुर्थी । 'तेषु मध्य' इति व्याख्यान नातीव समीचीनम् । यत कश्चिदपि स्त्रीपुरुषात्मको जन विरक्तोऽपि तदादेशपराङ्मुख कामाज्ञामञ्जक सुरतविमुख नासीत् अत एव आम्नङ्गिरव भोगपरैरेव तैर्निद्राऽतिवाह्यते इति ।

पद्य ८७ यथा—

सो मुद्धसामलङ्गो धम्मिल्लो कलिअललिअणिअदेहो ।
तीए खन्धाहि बलं गहिअ सरो सुरअसगरे जअइ ॥

छाया—स मुग्धश्यामलाङ्गो धम्मिल्लो कलितललितनिजदेह ।
तस्या स्कन्धाद्बल गृहीत्वा स्मर सुरतसङ्गरे जयति ॥

इत्थ कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्धेनालङ्कारेणालङ्कारस्य व्यक्तिमुदाहरति । पद्यस्य व्याख्यानम्—स धम्मिल्ल केशपाश एव स्मर कामस्तस्या नायिकाया स्कन्धोऽ सभाग एव स्कन्ध सेनानिवहस्तस्माद्बल सामर्थ्यमेव बल सैन्य गृहीत्वा सुरतसङ्गरे सुरतरूपे सङ्ग्रामे जयति सर्वो त्कर्षेण वर्तते । कीदृश मुग्ध सुन्दर श्यामलम् (श्यामलम्) अङ्ग यस्य स । तथा कलित पुनरापादितो ललितो मनोहरो निजदेह स्वशरार धम्मिल्लरूप यन स । इति वाक्यार्थ ।

तादृशस्य हि महापुरुषबुद्ध्या स्वकीयबलदानन साहाय्यकमाचरन्ति लोका इति बोध्यम् । धम्मिल्ल स्मर इति रूपकम् । स्कन्धादिति बलमिति च श्लिष्टरूपके सुरतसङ्गरे इति रूपकम् । यथा युद्धाभिवर्तमानमपि कश्चित् कश्चिन्मित्रभू सोऽन्यत स्कन्धावारात् बल लब्ध्वा स प्रोत्साहयति तथा यस्या नायिकाया पूर्वसुरतवेलाया मुहुर्मुहु कर्षणेन स्कन्धपतितकेशपाश साक्षात्स्मर एव स्कन्धाद् बल गृहीत्वा (लब्ध्वा) सुरतभोगनिवृत्तमपि मा मन प्रोत्साहनेन सुरते प्रवर्त यतीति भाव । अत्र रूपकेणेति एकवचनम् जात्यभिप्रायेणानेकेषा रूपकाणा सत्त्वात् । सुरतसङ्गरे इति धम्मिल्ल स्मर इति रूपकालङ्काराभ्यामित्यर्थ । धम्मिल्लस्य स्कन्धसम्बन्धेन शोभातिशयलाभात् स्कन्धपदस्य प्राधान्यम् । तथोपर्युक्तरूपकाभ्या व्यतिरेकनिष्पत्तिरूपाभिलापहेत्वभावेऽपि अभिलापोदयात्

विभावनाऽलङ्कारो व्यज्यते। रतिनिष्पत्तिश्च स्वपदेनैव द्योतिता। आकर्षणेन हि धम्मिल्लस्य स्कन्धप्राप्ते प्रायशो रतिनिष्पत्तिं विनाऽसम्भवात्। अत्र रूपक स्वतोऽसम्भवीति कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्धम्।

पद्य ९१ यथा—

विहलसलं तुम सहि दट्ठूण कुडेण तरलतरदिट्ठिम्।
बारप्फसमिसेण अ अप्पा गुरुओत्तिपाडिअ विहिण्णो॥

अस्य छाया—विश्रृङ्खलां त्वां सखि दृष्ट्वा कुटेन तरलतरदृष्टिम्।
द्वारस्पर्शमिषेण चात्मा गुरुक इति पातयित्वा विभिन्न॥

अत्र पद्ये कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रसिद्धेनालङ्कारेण वस्तुनो व्यक्तिमुदा हरति। व्याख्यात पद्यस्य यथा—नदीकूले लतागहने कृतसङ्केतमप्राप्त गृह प्रवेशसमये पश्चादागच्छन्त कामुक दृष्ट्वा पुनर्नदीगमनाय बुद्धिपूर्वं द्वारस्पर्श व्याजेन घट स्फोटितवतीं नायिका प्रति सख्या त्वदभिप्रायोऽवगतो मया तस्मा त्समाश्वास विधाय समीहितसिद्धये व्रज। अह त्वद्गृहवादिनिकटे सर्वं समाधास्ये इत्यभिप्रायगर्भा अविदग्धजनप्रतारणायोक्तिरियम्। हे सखि विश्रृङ्खलमिति भार प्रसाद् विकला व्याकुला वा अत एव तरलतरदृष्टिम् अतिशयितचञ्चलदृष्टिम् त्वा दृष्ट्वा कुटेन घटेन (कर्त्रा) आत्मा स्वस्वरूपम् धर्म्यपदस्य कम्बुग्रीवा दिमान् मृन्मयो देह इति यावत् गुरुक गरीयान् इति स्वाकरया अपि कष्टदायक इति तु नेनेति भाव। द्वारस्पर्शस्य मिषेण व्याजेन पातयित्वा विभिन्न स्फोटित इत्यर्थ। अन्तर्भावितण्यर्थोऽयम्। नाथ द्वारस्पर्शात् घटनाशस्त्वया कृत किन्तु गुरुतया परपीडकत्वात् घटेनैव स्वात्मा निभिदित इत्यपह्नुत्यलङ्कार। विश्रृङ्खलां कामपरवत्तामिति हृदि स्थितोऽर्थः। कृतेर्व्याख्यान तु गृह प्रवेशावसरे गृहप्रवेश समये आगत कामुक दृष्ट्वा पुनर्नदीगमनाय द्वारोपघातव्याजेन बुद्धिपूर्वं व्याकुल या त्वया घट स्फोटित अत्रैव बुद्धिपूर्वं विभेदित इति मया चिन्तितमवग तम्। तत् तस्मात् व्रज गच्छ अग्रेपरिप्रदर्शितापह्नुत्यलङ्कारेण त्वदभिप्रायोऽवगतो मया, तत्समाश्वास विधाय समीहितसिद्धय व्रज अह त्वद्गृहनिकटे सर्वं समर्प यिष्ये, इति वस्तुन बारप्फसमिसेणेति पदप्राधान्यात् पदप्रकारता। अत्रापीयाने घटे स्वात्मविभेदनरूपचेतनधर्मारोप इति तन्मूलकत्वाऽपह्नुते प्रौढोक्तिसिद्धत्वम्।

पद्य ९२ यथा—

धनि धनि शुकचञ्चूचारुवामाङ्कुराणां दिशि दिशि पवमानो वीरुधां लासकश्च।

नरि नरि किरति द्राक् सायकान् पुष्पधन्वा पुरि पुरि विनिवृत्ता मानिनीमानचर्चा॥

अत्र प्रत्ययरूपपदैकदेशयो तिङ्सुपो सम्भोगशृङ्गारस्य व्यक्तिमुदाहरति पद्यव्याख्यान यथा—वसन्तवर्णनमिदम्। पथि पथि प्रतिमार्गम् अङ्कुराणा नूतनप्ररोहाणाम् आभा कान्ति शुकचञ्चूनामिव चारुर्मनोहरा (अस्ति)। एवम् दिशि दिशि प्रतिदिश वीरुधा लताना लासको नर्तक पवमानो वायुश्चास्ति। आभ्या च बाक्याभ्या नूतनाङ्कुरशोभाशालिवसन्तर्तुसर्वदिक्सञ्चारिमन्दमारुतयोरुद्दीपकयो सम्पत्तिरुक्ता। तत्कार्यमाह—नरि नरीति। नरि नरि प्रतिपुरुष पुष्प धनुर्यस्य स पुष्पधन्वा काम द्राग् झटिति सायकान् पञ्चापि बाणान् किरति क्षिपतीत्यर्थ। (एव कामाद्दीपने सति) पुरि पुरि प्रतिनगर मानिनीना मानवतीना स्त्रीणा मानस्य चर्चा वार्ता प्रसङ्गो वा विनिवृत्ता विशेषेण निवृत्ता गतेत्यर्थ। अत्र नरि नरि पुरि पुरि इत्येतयो स्थानात्यप्रमाणेन एकैकस्या पुरि एकैकस्मिन् नरि सायकपातेन सम्पूर्णनगरे व्यापाव् सर्वासा मानभङ्ग तथा पुरुषेषु बाणपातेन मानधनाभि स्त्रीभिरपि मानस्त्यक्त इति असीवाखण्डाज्ञाशालित्व मन्मथस्य द्योत्यते। अत्र किरतीति लिङ्। किरणस्य साध्यत्वम् तिङ्योगे व्यञ्जनया साध्यतयैव धात्वर्थोपस्थिते निवृत्तेति सुप्प्रत्ययेन निवृत्ते सिद्धत्वम् सुप्योगे व्यञ्जनया तथैव प्रकृत्यर्थप्रतीते। तत्र सिद्धत्वेऽपि 'क्त' प्रत्ययेन अतीतत्व व्यज्यते इति। किरणनिवृत्त्यो पौर्वापर्यविपर्ययरूपातिशयोक्त्यलङ्कारप्रकाशो रसोत्कर्षे पर्यवस्यति यथा च किरतीति वृत्तेति तिङ्सुपो प्रत्ययात्मकपदैकदेशयो क्रमेण प्रत्ययार्थगतसाध्यत्वसिद्धत्वाभिव्यक्तिद्वारा रत्युद्दीपनातिशयपर्यवसानात् प्राधान्यम्। मान निवृत्तौ शरकिरणम् तस्य सिद्धत्वे वक्तव्ये किरतीति तिङ्प्रत्ययेन साध्यत्वोक्ति। मानानिवृत्तौ च कार्यभूतायां साध्यत्वे वक्तव्ये सिद्धत्वोक्तिस्तथा च किरणनिवृत्त्यो कारणकार्यभूतयो पौर्वापर्यविपर्ययात् कार्यकारणयो पौर्वापर्यविपर्यय रूपातिशयोक्त्यलङ्कारप्रकाश। स च निवृत्ते शीघ्रत्वबोधनद्वारा वसन्तस्योद्दीपकातिशयाभिव्यक्ते रसोत्कर्षे पर्यवस्यति इति 'क्त' प्रत्ययेनातीतत्व शक्त्या बोध्यते तेनोत्पन्नस्वरूप सिद्धत्व व्यङ्ग्यम्। तथा च प्रकृत्या प्रत्यायितस्याऽप्यतीतत्वस्य पुनः क्तप्रत्ययेन प्रत्यायनमतिशयावगमाय।

पद्यं १०० यथा—

लिखन्नास्ते भूमिं बहिरवनत प्राणदयितो
निराहारा सख्य सततरुदितोच्छूननयना॥

परित्यक्तं सर्वं हसितपठितं पञ्जरशुकै-
स्तवावस्था चेयं विसृज कठिने मानमधुना ॥

अत्र प्रत्ययरूपपदैकदेशेषु सुप्तिङ्विशेषेषु विप्रलम्भशृङ्गारस्य व्यक्तिमुदाहरति। अत्र पद्येऽमरुशतके बहुदिनव्यापिमानवतीं प्रति सख्या उक्तिरियम्। व्याख्यानम्-हे कठिने निर्दये तव प्राणानां दयितः प्रियः। तेन दयितदुःखेन त्वत्प्राणा अपि दुःखिता भविष्यन्तीति ध्वन्यते। यद्वा तव प्राणा इव सोऽस्माकं दयितः तथा च त्वत्प्राणा इव सोऽप्यस्माकं रक्षणीय इति भावः। ईदृशोऽपि अवनतः नम्र भूमिं न तु भूमौ। तेनाकाङ्क्षितस्य कर्मणः असुहेतुत्वं ध्वन्यते। लिखन् शून्य-हृदयतया। विलिखन् न तु लिखतीति। तेन लिखनस्याबुद्धिपूर्वकत्वरूपाप्रा-धान्यं ध्वन्यते। बहिः बाह्यदेशे न तु गृहमध्ये। तेन नायकस्यात्युद्वेगो ध्वन्यते। आस्ते उपविष्टोऽस्ति न त्वासीत्। तेनैवमवस्थानस्य प्रसादपर्यन्तता ध्वन्यते। तथा सख्यः सर्वाः यवस्या निर्गतः आहारो यासां तथाभूताः सख्यः सततं निरन्तरं यद् रुदितं तेनोच्छूने जातशोफे नयने चक्षुषी यासां तथाभूताः। सन्तीति शेषः। तथा पञ्जरस्थैः शुकैः कीरैः हसितं हसनं पठितं पठनम् अन्यच्च सर्वं शरीरधारणोपयोगि भोजनादिकमपि परित्यक्तम्, उज्झितम् अज्ञानामपीदृग्यवस्था किं पुनरस्माकमिति भावः। पञ्जरेत्यनेनान्यत्रगमनासामर्थ्यं व्यज्यते। शुकेत्येक-वचनं न कृतम्। एकस्य शिक्षादिनापि तथा ज्ञानसम्भवात्। तव चेयमुत्तरोत्तर-वर्धमानासह्यपीडाजनिका अवस्था दशा। जातेति शेषः। अतः अधुना वसन्त-चन्द्रिकादिभिरुद्दामे मन्मथविकसिते सतीत्यर्थः। मानं विसृज विशेषेण त्यजेत्यर्थः। अत्र लिखन्नित्युक्तं नतु लिखतीति तेन शतृप्रत्ययेन लिखनस्या प्राधान्यमबुद्धिपूर्वकत्वरूपम्। आस्ते इत्युक्तं न त्वासीदिति। तेन तथावस्थानस्य प्रसादपर्यन्ततां तिङ्विभक्त्या व्यज्यते। भूमिमित्युक्तम् नतु भूमाविति। तेन बुद्धिपूर्वकं भूमौ किञ्चिन्न लिख्यते इति सुब्विभक्त्या व्यज्यते। तेन च व्यङ्ग्येन नायकस्य मोहातिशयो व्यज्यते तेन च विप्रलम्भोत्कर्षो व्यङ्ग्य इति भावः।

पद्यं १०९ यथा—

रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं परा-
मस्मद्भाग्यविपर्ययाद्यदि परं देवो न जानाति तम्।
वन्दीवैष यशांसि गायति मरुद्यस्यैकबाणाहति-
श्रेणीभूतविशालतालविवरोद्गीर्णैः स्वरैः सप्तभिः ॥

पदैकदेशरचनावर्णेष्वपि रसादय इति यदुक्तं तत्र तेषां बहूनां रसव्यञ्जकत्वम्। अत्र पद्ये बहूनां वीररसव्यञ्जकत्वमुदाहरति। तस्य व्याख्यानम्-राघवानन्दनाटके रावणमुद्दिश्य विभीषणोक्तिरियम्। राम सकलभुवनमनोरमण एतेन सर्वे तद्धितकारिण इति व्यज्यते। असौ खरदूषणादिनिहन्तृत्वेनातिप्रसिद्धः विलक्षणधैर्यगाम्भीर्यादिशाली च भावनया प्रत्यक्षायमाणश्च। विक्रमगुणैरिति। केवलं प्रसिद्धिं प्राप्त इत्युक्ते सदोषगुणैरपि प्रसिद्धिसम्भवः यथा सम्प्रत्यस्य रावणस्य। तन्निवृत्त्यर्थं गुणैरिति। न केवलं गुणैः अपि तु विक्रमजैः। एतेन सीतादानस्यावश्यकत्वं व्यज्यते। सापि (प्रसिद्धिरपि) न ग्रामे न नगरे नापि भुवने किंतु भुवनेषु, तेष्वपि न कृशा किंतु परामृ। तेनाज्ञातत्वनिरासः। यद्वा विक्रमगुणैः प्रकृष्टा सिद्धिः अयत्नलभ्या भुवनेषु प्राप्त इत्यर्थः। एतेन सर्वथाऽपि युद्धेऽजेयत्वं ध्वन्यते। तमपि यत् देवो दिव्यज्ञानवानपि भवान् न जानाति तद् अस्माकं भाग्यस्य विपर्ययादेव अन्यथाविपरिणामादेः न तु त्वद्भाग्यविपर्ययात् त्रैलोक्यनाथतादृशमहापुरुषहस्तेन मरणेऽपि मोक्षलक्ष्मीविलासलाभेन तस्यापि भाग्यफलत्वाद् अस्माकं पुनः चिरकालप्रीतिताना त्वादृशप्रभुविपद्दर्शनात् त्वद्वियोगाच्च निरन्तरदुःखदावानलपश्यम नाना परं भाग्यविपर्ययः। यदि परमिति निपातसमुदायोऽवधारणार्थः। अत्र भाग्यविपर्ययादित्युक्तं न तु अभाग्यादिति। तेन त्वादृशप्रभुलाभात् सार्वदिकातिशयसुखलाभेनाभाग्यविरहेऽनुमितेऽपि भाग्यान्येव विपरीतफलत्वेन परिणतानीति ध्वनिः। अस्मदित्यनेन समस्तरक्षःकुलस्यैव तथात्वं प्रतीयते। प्रसिद्धिहेतुभूतं विक्रमगुणोदाहरणमाह—बन्दीति। एष भरत्वद्वायु बन्दीव वैतालिक इव सप्तभिः स्वरैः षड्जादिभिः यस्य रामस्य यशांसि गायतीत्युत्प्रेक्षागर्भम्। सप्तस्वराश्चोक्ता 'निषादर्षभगान्धारषड्जमध्यमधैवताः। पञ्चमश्चेत्यमी सप्त तन्त्रीकण्ठोत्थिताः स्वराः ॥' इति। कीदृशैः स्वरैः। एकबाणहृत्या जातानि यानि श्रेणीभूतविशालतालानां विवराणि रन्ध्राणि तैः उद्गीर्णाः प्रकाशितास्तैस्तथाभूतैरित्यर्थः।

अत्रासाविति सर्वनाम्ना भुवनेष्विति गुणैरिति उभयत्रैव प्रातिपदिकबहुवचनयोः, अस्मादिति सर्वाविशेष्यो, भाग्यविपर्ययादिति अन्यथाविपरिणामसुखेनाभिधानस्य च वीररसव्यञ्जकत्वं सहृदयवेद्यम्। अन्यथासम्पत्तिः दुर्भाग्यरूपेण

परिणमनम् । नयमाख्यादिति क्रमानुगुणेन । अतस्तथाविधेनाभावविशेषेण भाग्यान्वेर सादृश्येन परिणतानीति व्यज्यते । पद्य ११० यथा—

तरङ्गिमनि कलयति कलामनुमदनधनुर्भ्रुवोः पठत्यग्रे ।
अधिवसति सकलललनामौलिमियं चकितहरिणचलनयना ॥

बहूनां शृङ्गाररसस्य अवस्थामुदाहरति । इयमेषा चकितस्य भीतस्य हरिणस्य मृगस्य चले चञ्चले नयने इव नयने यस्याः सा यद्वा चकितस्य हरिणस्येव चले नयने यस्या इति अपि विग्रहः । तथाभूता नायिका सकलललनानां मौलिमधिवसति । 'उपान्वध्याङ्वसः' सूत्रेणाधारस्य कर्मसंज्ञा सर्वसुन्दरीशिरसि तिष्ठतीत्यर्थः । सीमान्तचूडामणित्वं प्राप्नोतीति यावत् । कस्मिन्सति । तरङ्गिमनि तारुण्ये कलां कटाक्षविक्षेपादिरूपां कलयति शिक्षयति सति अर्थात्तद्विकार्यं । यद्वा तरङ्गिमनि कलामुपचयं (वृद्धि) कलयति प्राप्नुवति सतीत्यर्थः । पुनः कस्मिन् सति भ्रुवोरग्रे भ्रूलताग्रे अनुमदनधनुः मदनधनुः कामचापस्य समीपे पठति सति अर्थात्कटाक्षः । अत्र चकितेत्यनेन चक्षुषोऽत्यन्तचञ्चलत्वातिशयो व्यज्यते । वृत्तेर्व्यङ्ग्यानां यथा—

अत्र इमनिच्प्रत्ययाव्ययीभावसमासकर्मभूताधाराणां शृङ्गाररसप्रकर्षं व्यञ्जयति अत्रेमनिजित्यादिना तरङ्गिमनि इति 'इमनिच्' प्रत्ययः । अनुमदनधनुरित्यव्ययीभावः । मौलिमिति कर्मभूताधारत्वेनाभिव्यक्तिः । स्वरूपमेवेति । शृङ्गारव्यञ्जकमिति शेषः । तदेवाह तरङ्ग इति । एषां इमनिजादीनां वाचकत्वे त्वादिभिः प्रत्ययादिभिस्तुल्येऽपि अस्ति कश्चित्स्वरूपस्य विशेषः इति । श्रुतिदुष्टादीनां माधुर्यादिगुणोऽयं वचनागोचरः सहृदयसंवेद्य इत्यर्थः । यथासम्भवसामग्री स एव व्यञ्जकत्वं प्राप्नोतीति । अयं भावः । इमनिचा तद्विशेष सुकुमारतारुण्येन गाम्भीर्य नवं वयः प्रतीयते । तरङ्गे इत्युक्ते प्रत्ययस्य प्रौढत्वपरतया वयसोऽपि प्रौढत्वं प्रतीयेत । अनुमदनधनुरिति पूर्वपदार्थप्रधानाव्ययीभावेन उत्तरपदार्थभूतधनुषोऽप्राधान्यं प्रकटयता तत्प्रत्येकशवशीकरणसामर्थ्यं भ्रूलतायाः प्रत्याय्यते । तथा मौलिमिति कर्मप्रत्ययेन कर्मीभूतसकलललनामौलिव्याप्तिसूचनद्वारा सौन्दर्यातिशयो व्यज्यते । मौलौ इत्युक्ते आधारस्यैकदेशवृत्तितायां अपि सम्भवात्सातिशयं प्रतीयेत । एवम् इमनिजादीनामेवैतत्प्रत्ययस्य शृङ्गाररसप्रकर्षव्यञ्जकत्वमिति ।

चतुर्थोल्लासः

अस्योल्लासस्य सर्वोऽपि विषय कोष्ठरूपेण निम्न प्रदर्श्य रसा नव सन्ति नवैव च तेषा स्थायिभावा । तद्यथा—

रसनाम	स्थायिभाव	उदाहरणम्
१ शृङ्गार (क) सम्भोग	रति	शून्य वासगृह ॥ ३० ॥
(ख) विप्रलम्भ १ अभिलाषहेतुक	"	प्रमादौ प्रणय ३२ ॥
२ विरहहेतुक	"	अन्यत्र व्रजतीति । ३३ ॥
३ ईर्ष्याहेतुक	"	ना पश्चु प्रथमा ॥ ३४ ।
४ प्रवासहेतुक	"	प्रस्थान वलयै ॥ ३५ ॥
५ शापहेतुक	"	श्यामास्विल्य । ३६ ।
२ हास्यम्	हास	आकुञ्च्य पाणि ॥ ३७ ।
३ करुण	शोक	हा मातस्त्वरिता ॥ ३८ ॥
४ रौद्र	क्रोध	कृतमनुमत दृष्ट ॥ ३९ ॥
५ वीर	उत्साह	क्षुद्रा सन्त्रासमेते ॥ ४० ॥
६ भयानक	भयम्	ग्रीवाभङ्गाभिराम ॥ ४१ ।
७ बीभत्स	जुगुप्सा	उत्कृत्योत्कृत्य कृत्ति ॥ ४२ ॥
८ अद्भुत	विस्मय	चित्र महानेष बताद्य ॥ ४३ ॥
९ शान्त	निर्वेद शमो वा	अहौ वा हारे वा । ४४ ।

भावादीनां लक्षणमुदाहरणं च ।
निम्नलिखितकोष्ठे द्रष्टव्यम्—

भावनाम	लक्षणम्	उदाहरणम्
१ भाव (क) देवविषया रति	रतिर्देवादिविषया ।	कण्ठकोणविनिविष्टमीश॥४५॥
(ख) व्यभिचारी	"	अत्रैवोपरराक्षसी ॥ ४७ ॥
२ रसाभास	तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिता	स्तुम क वामाक्षि ॥ ४८ ॥
३ भावाभास	"	राकासुधाकरमुखी ॥ ४९ ।
४ भावशान्ति	भावस्य शान्ति प्रशम	तस्या सान्द्रविलेपन । ५० ।
५ भावोदय	भावस्योदय	एकस्मिन् शयने ॥ ५१ ॥
६ भावशबलता	भावाना शबलता पूर्वपूर्वोपमर्देन परस्परोदय	क्वाकार्यं शशलक्ष्मण क्व च ॥
७ भावसन्धि	भावयोरेककालमेव तुल्यकक्षयोरास्वाद समकालमेव विरुद्धयोरपि तुल्यरूपयोराभासो वा	उत्सिक्तस्य तप पराक्रमनिधेरभ्यागमादेकत । ५२ ।

ध्वनेर्भेदा उदाहरणानि च यथा—

ध्वनेर्भेदाः	उदाहरणानि
१. अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यो ध्वनिः	त्वामस्मि वच्मि विदुषाम् ॥ २३ ॥
२. अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यः ”	उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते ॥ २४ ॥
३. अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ”	शून्यं वासगृहं विलोक्य ॥ ३० ॥
४. शब्दशक्तिमूलकालङ्कारस्य ”	उल्लास्य कालकरवाल ॥ ५४ ॥
५. शब्दशक्तिमूलकवस्तुनः ”	पथिक ! नात्र स्रस्तरमस्ति ॥ ५८ ॥
६ स्वतःसम्भविना वस्तुना वस्तुनो व्यक्तिः	अलसशिरोमणिर्धूर्त्तानाम् ॥ ६० ॥
७. ” ” ” अलङ्कारस्य ”	धन्याऽसि या कथयसि ॥ ६१ ॥
८. ” ” अलङ्कारेण वस्तुन ”	दर्पान्धगन्धगजकुम्भकपाट ॥ ६२ ॥
९ ” ” ” अलङ्कारस्य ”	गाढकान्तदशनक्षतव्यथा ॥ ६३ ॥
१० कविप्रौढोक्तिसिद्धेन वस्तुना वस्तुनः ”	कैलासस्य प्रथमशिखरे ॥ ६४ ॥
११. ” ” अलङ्कारस्य ”	केशेषु बलात्कारेण तेन च ॥ ६५ ॥
१२. कविप्रौढो० अलङ्कारेण वस्तुनः व्यक्तिः	गाढालिङ्गनरभसोद्यते ॥ ६६ ॥
१३. ” ” अलङ्कारस्य ”	या स्थविरमिव हसन्ती ॥ ६७ ॥
१४. कविनिबद्धवक्तृप्रौढो० वस्तुना वस्तुन ”	ये लङ्कागिरिमेखलासु ॥ ६८ ॥
१५ ” ” अलङ्कारस्य ”	सखि ! विरचय्यमानस्य ॥ ६९ ॥
१६. ” अलङ्कारेण वस्तुनः ”	आर्द्रार्द्रकरअरदनक्षतैस्तव ॥ ७० ॥
१७. ” ” अलङ्कारस्य ”	महिलासहस्रभरिते तव ॥ ७१ ॥
१८. शब्दार्थोभयशक्तिमूलो ध्वनिः	अतन्द्रचन्द्राभरणा ॥ ७२ ॥
१९. पदप्रकाश्योऽर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य ”	यस्य मित्राणि मित्राणि ॥ ७३ ॥
२०. ” अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यः ”	खलव्यवहारा दृश्यन्ते ॥ ७४ ॥
२१. ” अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ”	लावण्यं तदसौ कान्तिः ॥ ७५ ॥
२२. ” वस्तुनाऽलङ्कारस्य व्यक्तिः	रुधिरविसरप्रसाधित ॥ ७७ ॥
२३. ” ” वस्तुनः ”	भुक्तिमुक्तिकृदेकान्त ॥ ७८ ॥
२४. ” स्वतःसम्भाविना व० व० ”	सायं स्नानमुपासितम् ॥ ७९ ॥
२५. ” ” ” अलङ्कारस्य ”	तदप्राप्तिमहादुःखविलीना ॥ ८० ॥
२६. ” ” अलङ्कारेण वस्तुनः ”	क्षणदाऽसावक्षणदा ॥ ८२ ॥
२७. ” ” ” अलङ्कारस्य ”	तव वल्लभस्य प्रमाने ॥ ८३ ॥
२८. ” कविप्रौढोक्तिसिद्धेन व० व० ”	रात्रीषु चन्द्रधवलासु ॥ ८४ ॥
२९. ” ” ” अलङ्कारस्य ”	निशितशरधियाऽर्पयत्यनङ्गो ॥ ८५ ॥
३०. ” ” अलङ्कारेण वस्तुनः ”	वार्यमाणोऽपि पुनः सन्ताप ॥ ८६ ॥

ध्वनेर्भेदाः	उदाहरणं
३१. " " " अलङ्कारस्य "	स मुग्धश्यामलाङ्गो धम्मिल्ल० ॥
३२. " कविनिबद्धवक्तृप्रौढो०व०व० "	नवपूर्णिमामृगाङ्कस्य ॥ ८८ ॥
३३. " " " अलङ्कारस्य "	सखि ! तव निधुवनसमरे ॥ ८९ ॥
३४. " " अलङ्कारेण वस्तुनः "	प्रविशन्ती गृहद्वारम् ॥ ९० ॥
३५. " " " अलङ्कारस्य "	ज्योत्स्नया मधुरसेन च ॥ ९१ ॥
३६ प्रबन्धेऽर्थशक्तिमूलो ध्वनिः	अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन् ॥ ९३ ॥
३७ धातुरूपपदैकदेशे रसस्य "	रतिकेलिहृतनिवसनकर० ॥ ९७ ॥
३८. नामरूपपदैकदेशे " "	प्रयान् सोऽयमप्राकृतः ॥ ९८ ॥
३९. प्रत्ययरूपपदैकदेशे " "	पथि पथि शुकचञ्चूचारु० ॥ ९९ ॥
४०. संशयास्पदध्वनिद्वयसङ्करः	क्षणप्राघुणिका देवर जायया ॥ १११ ॥
४१. अनुग्राह्यानुग्राहकैकव्यञ्जकानुप्रवेश-रूपौ सङ्करौ संसृष्टिश्च	स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्त ॥ ११२ ॥

ध्वनेः परिगणनम्

१ लक्षणामूलकः
अविवक्षित०

१
अर्था.
पदे वाक्ये
४

२
अत्यन्त.
पदे वाक्ये

२ अभिधा
विवक्षित२

१
असं.
पद १
वाक्य २
प्रबन्ध ३
पदैकदेश ४
रचना ५
वर्ण ६

संलक्ष्य

१
शब्द०

२
अर्थ०

३
उभय०
वाक्य १

वस्तु १	स्वतः०	कविप्रौ०	कविनि०	
अलं. २	वस्तुना वस्तु	१ व. व.	१ व. व.	१
पद ३	वस्तुनालङ्कारः	२ व. अलं.	२ व. अलं.	२
वाक्य ४	अलङ्कारेण वस्तु.	३ अलं. व.	३ अलं. वस्तु	३
	अलङ्कारेणालङ्कारः	४ अलं. अलं	४ अलं अलं	४
	४	४	४	
पदवाक्यप्रबन्ध	३	३	३	
	१२	१२	१२	

स्वतः	१२
कविप्रौ.	१२
कविनि.	१२
	३६
अविवक्षित०	४
असं०	६
शब्द०	४
उभय०	१
	५१
अन्योन्ययोजने	५१
	२६०१
त्रिरूपेण ससङ्करेण गुणने	३
	७८०३
एकरूपया संसृष्ट्या	२६०१
	१०४०४
शुद्धभेदयोजने	५१
सकलभेदाः	१०४५५

इति चतुर्थोल्लासः ।

अथ पञ्चमोल्लासः

प्र० १—सोदाहरणा गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदा लेख्याः ।

उ० १—अगुणं गुणं भूतमिति गुणीभूतं गुणीभूतञ्च तद् व्यङ्ग्यञ्चेति गुणीभूतव्यङ्ग्यम् । गुणपदेनात्र गौणं बोध्यम् । यत्र वाच्यार्थादधिकचमत्कारि व्यङ्ग्यं न भवेत्तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यमिति व्यवहारः । तस्य निम्नाष्टौ भेदाः सन्ति ।

व्यङ्ग्यभेदाः	उदाहरणानि	व्यङ्ग्यभेदा	उदाहरणानि
१. अगूढव्यङ्ग्यम्			
(क) अर्थान्तरम्.	यस्यासुहृत्कृत	४ अस्फुटम्	अदर्शने दर्शनोत्कण्ठा
(ख) अत्यन्ततिर	उन्निद्रकोकनद	५ सन्दिग्धप्राधान्यम्	हरस्तु किञ्चित्परिलुप्त
(ग अर्थशक्तिमू	अत्रासीत्फणिपाश	६ तुल्यप्राधान्यम्	ब्राह्मणातिक्रमत्यागः
२ अपरस्याङ्गम्	अयं स रशनोत्कर्षी	७ काक्वाक्षिप्तम्	मथ्नामि कौरवशतम्
३ वाच्यसिद्ध्यङ्गम्	भ्रमिमरतिमल	८ असुन्दरम्	वानीरकुञ्जोड्डीन

प्र० २—गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टसु भेदेषु द्वितीयस्य 'अपरस्याङ्गम्' इत्याख्यस्य भेदस्य स्वरूपं, लक्षणं सप्रपञ्चं सोदाहरणं निपुणं निरूप्यताम् ।

उ० २—अपरस्याङ्गमिति द्वितीयभेदं विवृणुमः । अपरस्य रसादेः इत्यादिवृत्तिगतस्य व्याख्यानमेवम्—अपरशब्दार्थमाह—रसादेर्वाच्यस्य वा (वाक्यार्थीभूतस्येति) । रसादेरित्यत्रादिपदेन भाव रसाभास भावाभास-भावशान्ति-भावोदय-भावसन्धि-भावशबलतारूपस्यासंलक्ष्यक्रमस्य च ग्रहणम् । वाच्यस्य वाच्यार्थस्य कीदृशस्य रसादेर्वाच्यस्य वेत्याकाङ्क्षायामाह—वाक्यार्थीभूतस्येति । वाक्यतात्पर्यविषयतया प्रधानस्येत्यर्थः । एवं चासंलक्ष्यक्रमम्, संलक्ष्यक्रमं वाच्यवस्तु चेति त्रिविधोऽत्रापरशब्दार्थः । अत एव अपरस्याङ्गम् अपरस्य रसादेः स्वनैरपेक्ष्येण लब्धसिद्धेरुपकारकम् । तत्र रसपदम् असंलक्ष्यक्रमोपलक्षणम् । आदिना लक्ष्यक्रमस्य वाच्यवस्तुनश्च सङ्ग्रहः । एतेषां प्रधानानां मध्ये रसभाववाच्यरूपस्य त्रिविधस्यैव प्रधानस्योदाहरणानि मूलकृताऽग्रे प्रदर्शितानि । रसाभासाद्यलक्ष्यक्रमरूपस्य, संलक्ष्यक्रमरूपस्य च प्रधानस्योदाहरणानि सुधीभिः स्वयमूह्यानि । अङ्गम् उपकारकम् उत्कर्षकमिति यावत् । रसादीति । असंलक्ष्यक्रमरूपमित्यर्थः ।

स्पर्धाविन्धसमृद्धयेव सुदृढं रूढा यया नेत्रयो
कान्ति कोकनदानुकारसरसा सद्य समुत्सार्यते ॥

प्रणतिपरे भगवति भवे भवान्या मानभङ्गेन नेत्रारुण्यनाशवर्णनमिदम् । गिरिभुव पार्वत्या सा पादनखाना द्युति कान्ति व युष्मान् सदा त्रायताम् रक्षत्वित्यन्वय । कीदृशी । कैलास आलय स्थान यस्य तथाभूतस्य (शम्भो) भालसम्बन्धिनो लोचनस्य वह्निरूपस्य रुचा अरुणकान्त्या निर्वर्तिता निष्पादिता सम्पादिता अलक्तकस्य लाक्षारसस्य व्यक्ति प्रकटता यस्या तथाभूता, मानिन्या पादपतने सान्निध्येन लाक्षारुणललाटनेत्रप्रभासम्पर्कादिति भाव । तेन शिवस्य गिरिजापादपतनं ध्वन्यते । सा का । यया नखद्युत्या सुदृढं यथा स्यात् तथा रूढा प्रवृद्धा कोकनदस्य रक्तोत्पलस्य अनुकार सादृश्य यस्या कोकनदसदृशी स्यर्थ । अत एव सरसातिशयिता नेत्रयो कान्ति कोपजनिता शोणद्युति सद्य तत्क्षण समुत्सार्यते नि शेष दूरीक्रियते । अत्र गिरिभुव कोपान्नेत्रयो शोणा कान्तिरासीत् सा पादप्रणते शिवेऽपगतेति तत्त्वम् । तत्रेदमुत्प्रेक्ष्यते । स्पर्धाया विजिगीषाया बन्धेन सातत्येन समृद्धयातिदीप्तयेव ।

अत्र किं कस्याङ्गम् इति चेत् श्रूयतामि यत प्रतीतस्य कविनिष्ठस्य पार्वती-विषयकरत्यात्यभावस्य महादेवनिष्ठ पार्वतीविषयक सम्भोगरूप शृङ्गार अङ्गम् । तस्य शृङ्गारस्य भावप्रकर्षार्थमेवोपादानात् पुष्टविभावाद्यप्राप्त्याऽपुष्टत्वाच्च रसस्य भावाङ्गता । अत्रापि रसवदलङ्कार एव ।

भावस्य भावाङ्गता यथा—

अत्युच्चा परित स्फुरन्ति गिरय स्फारास्तथाम्भोधय
स्तानेतानपि बिभ्रती किमपि न क्लान्तासि तुभ्य नम ।
आश्चर्येण मुहुर्मुहु स्तुतिमिति प्रस्तौमि यावद्भुव
स्तावद्बिभ्रदिमा स्मृतस्तव भुजो वाचस्ततो मुद्रिता ॥

पद्माचरीनामा कवि अनेन श्लोकेन भोजराज स्तुतवान् । हे पृथ्वि, अत्युच्चा अत्युन्नता गिरय पर्वता परित सर्वत स्फुरन्ति समन्ताद् व्याप्य तिष्ठन्ति । एवम् स्फारा अतिविस्तृता अम्भोधय समुद्रा तथा स्फुरन्ति । हे पृथ्वि तानेतान् गिरिसमुद्रान् बिभ्रत्यपि धारयन्त्यपि त्वं किमपि किञ्चिदपि न क्लान्ता श्रान्तासि अत तुभ्य नम इति भुव पृथिव्या स्तुतिम् आश्चर्येण यावत् मुहुर्मुहु

वारंवार प्रस्तौमि तावत्। हे राजन् इमाम् एतद्दिग्विदितां भुवं बिभ्रत् पालयन्नेव बिभ्रत् धारयन्नेव तव भुजः स्मृतः (न तु भुजौ) ततः भुजस्मरणात् वाचः पृथ्वीस्तुतिरूपा मुद्रिता सङ्कुचिता इति वाच्यार्थः।

अत्र भूविषयक कविनिष्ठो रतिभावो राजविषयस्य कविनिष्ठस्य रतिभावस्याङ्गम्।

रसाभासभावाभासयो भावाङ्गता यथा—

बन्दीकृत्य नृप द्विषां मृगदृशस्ताः पश्यतां प्रेयसां
श्लिष्यन्ति प्रणमन्ति लान्ति परितश्चुम्बन्ति ते सैनिकाः।
अस्माकं सुकृतैर्दृशोर्निपतितोऽस्यौचित्यवारांनिधे
विध्वस्ता विपदोऽखिलास्तदिति तैः प्रत्यर्थिभिः स्तूयसे॥

कश्चित् कविः राजानं स्तौति। हे नृप ते तव सैनिकाः भटाः येषां द्विषां शत्रूणां मृगदृशः कातरतया मृगसदृशदृष्टयः स्त्रियः बन्दीकृत्य हठादाहृत्य पश्यतां तत्प्रियतमानामग्रे ताः मृगदृशः श्लिष्यन्ति आलिङ्गन्ति प्रणमन्ति नमस्कुर्वन्ति लान्ति गृह्णन्ति चुम्बन्ति च। इत्थमनुचितप्रवर्तयितापि त्वं तैः प्रत्यर्थिभिः स्तूयसे हे औचित्यवारांनिधे औचित्यसमुद्र त्वम् अस्माकं सर्वेषां सुकृतैः पुण्यैः दृशोः निपतितोऽसि। तत् तस्मात् त्वद्दर्शनात् अखिलाः विपदः अस्माकं ध्वस्ताः नष्टाः इति वाच्यार्थः।

अत्र प्रथमार्धे सैनिकनिष्ठः शृङ्गारोऽननुरक्तस्त्रीविषयकतया परस्त्रीविषयकतया च प्रवृत्तः द्वितीयार्धे तु प्रत्यर्थिनिष्ठो रतिरूपो भावः प्रकृतराजरूपस्यानुविषयकत्वयाहार्यत्वेन प्रवृत्तः। एवमनौचित्यप्रवर्तितत्वादुभावपि रसाभासभावाभासौ राजविषयस्य कविनिष्ठस्य रत्याख्यभावस्याङ्गभूतौ।

भावशान्तेर्भावाङ्गता यथा—

अविरलकरवालकम्पनैर्भ्रुकुटीतर्जनगर्जनैर्मुहुः।
ददृशे तव वैरिणां मदः स गतः क्वापि तवेक्षणे क्षणात्॥

हे राजन् अविरलं निरन्तरं करवालस्य खड्गस्य कम्पनैः भ्रुकुटीकरणैः तर्जनैः छिन्धि भिन्धीत्यादिवाक्यरूपैः हुङ्कारसिंहनादरूपैः गर्जनैः तव वैरिणां यो मदः अस्माभिर्मुहुर्मुहुः वारंवारं ददृशे दृष्टः। स तवेक्षणे तव दर्शने सति क्षणात् क्वापि गतः इति वाच्यार्थः।

अत्र वैरिणो मदाख्यो गर्वरूपो भावस्तस्य प्रशमः शान्तिः कविनिष्ठ-विषयकरतिभावेऽङ्गम्।

भावोदयस्य भावाङ्गता यथा—

साकं कुरङ्गकदृशा मधुपानलीलां कर्तुं सुहृद्भिरपि वैरिणि ते प्रवृत्ते।
अन्याभिधायि तव नाम विभो गृहीतं केनापि तत्र विषमामकरोदवस्थाम् ॥

हे विभो प्रभो राजन् ते तव वैरिणि शत्रौ कुरङ्गकदृशा बालमृगनेत्रया (कान्तया) सुहृद्भिः मित्रैरपि साकं सार्धं मधुपानलीलां मद्यपानरूपां क्रीडां कर्तुं प्रवृत्ते सति अन्याभिधायि अनेकार्थकतया त्वद्भिन्नस्यापि बोधकं तव नाम केनापि जनेन गृहीतम् उच्चारितं सत् तत्र वैरिणि क्रीडामन्दिरे विषमां कम्पादिरूपां अवस्थां दशामकरोत् इति वाच्यार्थः।

अत्र विषमावस्थाव्यङ्ग्यस्य त्रासरूपभावस्योदयः कविनिष्ठस्य राजविषयकस्य रत्याख्यभावस्याङ्गम्।

भावसन्धेर्भावाङ्गता यथा—

असोढा तत्कालोल्लसदसहभावस्य तपसः
कथानां विश्रम्भेष्वथ च रसिकः शैलदुहितुः।
प्रमोदं वो दिश्यात् कपटवटुवेषापनयने
त्वराशैथिल्याभ्यां युगपदभियुक्तः स्मरहरः ॥

तपः कुर्वतीं पार्वतीं वटुवेषेण छलयतो महादेवस्य वर्णनमिदम्। कपटेन छलेन यो वटोर्ब्रह्मचारिणः वेषः आकारविशेषः तस्य अपनयने त्यागे युगपत् समकालमेव त्वराशैथिल्याभ्यामभियुक्तः आक्रान्तः स्मरहरः शिवः वः युष्मभ्यं प्रमोदम् आनन्दं दिश्यात् दद्यात् इति वाच्यार्थः। त्वराशैथिल्ययोर्हेतुगर्भे विशेषणे असोढेति चरणद्वयेनाह—तत्काले पार्वत्या बालत्वकाले उल्लसन् प्रादुर्भवन् असहभावो दुःसहत्वम् यस्य तादृशस्य तपसः असोढा सोढुमसमर्थो यः फलदाने विलम्बयितुमक्षम इत्यर्थः। 'अथ' च समुच्चये शैलदुहितुः पार्वत्याः कथाविश्रम्भेषु (विश्वस्ततया) प्रणयेषु वा रसिकः प्रीतिमान्, स्मरजेतापि या दृष्ट्वा यत्कृपयाऽऽकृष्टचित्तः कृतः इति वाच्यार्थः।

अत्र स्मरहरगतयोः त्वरापदशैथिल्यपदगम्ययोरावेगधैर्याख्ययोः भावयोः सन्धिः कविनिष्ठस्य शिवविषयकरतिभावस्याङ्गम्।

भावशबलताया भावाङ्गता यथा—

पश्य कश्चित् चपल रे का त्वराऽहं कुमारी
हस्तालम्बं वितर हहहा व्युत्क्रम क्वासि यासि ।
इत्थं पृथ्वीपरिवृढ भवद्विद्विषोऽरण्यवृत्ते
कन्या कंचित् फलकिसलयान्याददानाऽभिधत्ते ।

किञ्चिदुन्मिषद्यौवनायाः प्रकृतनृपविरोधिवननिवासिनृपकन्यायाः फलाद्याहरण समये कस्मिंश्चित् कामुके जातानुरागाया उक्तिर्वर्णनमिदम् । हे पृथ्वीपरिवृढ भूस्वामिन् राजन् अरण्ये वृत्तिर्वर्तनं यस्य तस्यारण्यवृत्ते भवद्विद्विषः त्वच्छत्रोः कन्या कुमारी फलानि किसलयानि कोमलपल्लवांश्च आददाना गृह्णन्ती सती कंचित् कामुकम् इत्थमभिधत्ते। कश्चिज्जनः पश्येदिति शङ्का, रे चपल स्वच्छन्दाचरणशील चल अपसर इति असूया । का त्वरेति त्वरं निगमिषावारणायद्धृति । अहं कुमारी इति मम नैवंविधं स्वातन्त्र्यमुचितम् इति स्मरणम् । हस्तरूपमालम्बनं वितर देहीति श्रमः । हहहेति दैन्यम् । व्युत्क्रम कन्यागमनरूपविपरीताचरणम् । अयं विबोधः । असि इति त्वमर्थे विभक्तिप्रतिरूपकमव्ययम् । त्वं क्व कुत्र यासि इति औत्सुक्यम् । अत्र शङ्कासूयाधृतिस्मृतिश्रमदैन्यविबोधौत्सुक्यानां शबलता नृपविषयके रतिभावेऽङ्गम् । एते एव गुणीभूता रसादयः रसवदाद्यलङ्कारव्यपदेशं लभन्ते । रसवत्प्रेयऊर्जस्विसमाहितभावोदयभावसन्धिभावशबलताश्चेति रसवदादयो येऽलङ्कारा पूर्वमुक्तास्तेऽत्रोदाहृता ।

ननु 'गुणीभूतो रसो रसवत् भावस्तु प्रेय रसाभासभावाभासौ ऊर्जस्वि, भावशान्तिः समाहितं' इत्यस्यैव पूर्वेषामलङ्कारव्यवहारः । अतो रसादिचतुष्टयस्य रसवदाद्यलङ्कारत्वमुक्तम् न तु भावोदयादीनाम् इत्याशङ्क्यानुवदति । यद्यपि भावोदयभावसन्धिभावशबलत्वानि नालङ्कारतयोक्तानि तथापि कश्चिद् ब्रूयादित्येवमुक्तम् । नालङ्कारतयोक्तानि व्यक्तिविवेककृद्भिर्महिमभट्टैः स्वे विवरणे । श्रीमन्मम्मटमते रसवदादीनामपि नालङ्कारत्वम् । परमतमेतदत्रानूदितम् इति ।

अथ शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपोपमालङ्कारस्य (लक्ष्यक्रमस्य) वाच्याङ्गतायामपराङ्गव्यङ्ग्य मध्यमकाव्यमुदाहरति—जनस्थाने इति ।

जनस्थाने भ्रान्तं कनकमृगतृष्णान्वितधिया
वचो वैदेहीति प्रतिपदमुदश्रु प्रलपितम् ।

कृता लङ्काभर्तुर्वदनपरिपाटीषु घटना
मयाप्तं रामत्वं कुशलवसुता न त्वधिगता ॥

राजसेवानिर्विण्णस्य कवेरुक्तिरियम् । पद्यस्य व्याख्यानमेवम् । मया रामत्वं रामधर्मं आप्तं प्राप्तं परन्तु कुशलं परिणामसुरसम् उद्वेगनिरासनिपुणं वा आयति शुद्धं वा वसु धनं यस्य तद्भावः कुशलवसुता सैव कुशलत्वौ सुतौ यस्या इति व्युत्पत्त्या सीता सा तु नाधिगता न प्राप्ता रामत्वं कथं प्राप्तं तदाह—कनकस्य सुवर्णस्य मृगो मार्गणम् (अन्वेषणम्) प्रार्थना वा यत्र या तृष्णा । अथवा कनके वा या मृगतृष्णा निष्फलाशा सैव कनकमृगे मारीचे तृष्णा तया अन्धिता विवेकरहिता धीर्यस्य तादृशेन मया । यद्वा अन्धितया धिया जनाना स्थाने ग्रामनगरादौ भ्रान्तं भ्रमणमेव जनस्थाने दण्डकारण्ये भ्रमणं तत् कृतम् । वै निश्चयेन देहि प्रयच्छ इति यच्च वचनमेव वैदेहीति सीतासम्बोधनवचनम्, तत् प्रतिपदं प्रतिस्थानम् उद्गतम् उत्थितम् अश्रु अश्रुपल यत्र तथा भवति तथा प्रलपितं वृथैवोक्तम्, भर्तुं भरणकर्तुं धनिकस्य परिपाटीषु सेवारचनासु अलम् अत्यर्थं का घटना न कृता वद । अथवा काभर्तुः कुत्सितभर्तुः वदनपरिपाटीषु मिथ्याभाषणप्रकारेषु घटना उपपत्तिः सा एव लङ्काभर्तुः रावणस्य वदनपरिपाट्या मुखपङ्क्तौ इषुघटना शरसंयोजनं सा अलम् अत्यर्थं कृता इति श्लेषोपस्थित-पदार्थानामभेदारोपाद्रामत्वोपपत्तिः इति वाच्यार्थः ।

अत्र शब्दशक्तिमहिम्ना पादत्रयोक्त्या प्रकृताप्रकृतयोः कविप्रभुरामयोः उपमा मयाप्तं रामत्वम् इति वाच्याया रामत्वप्राप्तेरुपकारकतयैव कवेरभिप्रेतेति उपमाया वाच्याङ्गत्वम् । उपमानोपमेयभावः सादृश्यम् । जनस्थानादीनां परिवृत्त्यसहत्वात् शब्दशक्तिमूलता । 'रामत्वमाप्तम्' इत्यनेनैव वाच्यार्थसिद्धि-रिति नोपमाया वाच्यसिद्धेरङ्गत्वम् । इवाद्यभावेनोपमाया वाच्यत्वाभावान्नोप-मालङ्कारः किन्तु मध्यमकाव्यमेव ।

अर्थशक्तिमूलानुरणनरूपस्य (लक्ष्यक्रमस्य) वस्तुनो वाच्याङ्गतायामपराङ्ग-व्यङ्ग्यं मध्यमकाव्यमुदाहरति । आगत्येति—

आगत्य सम्प्रति वियोगविसंष्ठुलाङ्गीमम्भोजिनीं क्वचिदपि क्षपितत्रियामः ।
एतां प्रसादयति पश्य शनैः प्रभाते तन्वङ्गि पादपतनेन सहस्ररश्मिः ॥

मौग्ध्याद्विनैवानुनयं त्यक्तमानां प्रति सख्या उक्तिरियम् । हे तन्वङ्गि क्वचि-

दपि क्वचिदेव (द्वीपान्तरे एव नायिकान्तरगृहे) क्षपिता अतिवाहिता त्रियामा रात्रिर्येन तथाभूत सहस्ररश्मि सूर्य सम्प्रति अधुना प्रभाते जाते सति शनै अतिभीत इवातिलज्जित इव मन्द मन्दम् आगत्य एनाम् अम्भोजिनीम् कमलिनी मेव नायिकां पादपतनेन किरणसंयोगेनैव चरणपतनेन (प्रणामेन) प्रसादयति विकासयति एवानुनयति । एतत् पश्येत्यन्वय । कीदृशीम् वियोगे द्वीपान्तरे -सूर्यस्य सञ्चारणे यस्तेन सम्बन्धाभाव स एव वियोगो विरह तेन विसंष्ठुलाङ्गीं सकुचिताङ्गीमेव सन्तापकार्यादिना विषमाङ्गीमित्यर्थ ।

अत्र विनैवानुनयमपगतमाना नायिका सख्या उपालभ्यते । तथाहि सहस्र रश्मिरित्यनेन बहुनायिकावत्व ध्वन्यते । अम्भोजिनीमित्यनेन वर्ण्याया पद्मिनी त्वम् । क्वचिदपि क्वचिदेवेत्यनेन उपनायिकागृहे एवति निश्चयाभाव । तत्रापि यामत्रयमेव न त्वधिकम् एव चेदृशोऽपि ईदृशीं स्वयमेवागत्य पादपतनेनानुनयति ईदृशो हि कामिनोर्व्यवहार । त्व पुनर्बहुतरकाल परनायिकासक्ते धूर्ते विनैवा नुनय मान त्यक्त्वा प्रसन्नाऽसीत्युपालम्भ । एवञ्च नायकनायिकावृत्तान्त कथननेवाभिप्रेतम् स च वृत्तान्तो व्यज्यमान, वाच्ये रविकमलिनीवृत्तान्तेऽ भिन्नतया च आरोप्यमाणस्तस्य प्रकृतार्थता सम्पादयन् तदुत्कर्षमाधत्ते इत्यत्र सर्वैवास्ते। अयमेव,समासोक्त्यलङ्कार ।एतत्सर्वमभिप्रेत्याह वृत्तौ। नायकवृत्तान्त नायिकेत्येकशेष । नायकनायिके इत्यर्थ । वृत्तान्तो व्यवहार वस्तुरूप । यत्र स्वातन्त्र्येण धर्मिद्वयमवगम्यते तत्रैकधर्मान्वये सति उपमाङ्गीकाराद् एव धर्मिद्वया वगतावेव तादात्म्यारोपे रूपकाङ्गीकाराच्च रूपकमपि व्यङ्ग्य किन्तु वस्तुरूप एवेति भाव । यद्यपि पादशब्दस्य श्लिष्टत्वात् परिवृत्त्यसहत्वात् शब्दशक्तिमूलत्व सम्भवति तथापि अर्थशक्तिमूलत्वेन व्यपदेश । परिवृत्तिसहशब्दाना बाहुल्यात् तेषां प्राधान्याच्च ।प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्तीति न्यायात् । रविकमलिनीवृत्ता न्तस्य नायकनायिकावृत्तान्तनिरपेक्ष वात् अप्रकृतनायकनायिकावृत्तान्तोपस्थिति विनापि वाक्यार्थस्य पर्यवसानात् न वाच्यसिद्ध्यङ्गत्वम् अपि तु प्रतीतस्य वाच्यस्य व्यङ्ग्येन शोभामात्रमाधीयते इत्यपराङ्गत्वमेव । यत्र पुनर्व्यङ्ग्येन विना वाच्य मेवात्मान न लभते तत्र वाच्यसिद्ध्यङ्गत्वमिति व्यङ्ग्यसापेक्षनिरपेक्षसिद्धि भ्यामनयोर्भेद अध्यारोपेणैव उत्कर्षकतयैवेत्यर्थ । एव च वाच्यरविकमलिनी-

स्थित न तु प्रधानतया इति ।

प्र० ३—व्याख्यायतां निम्नोद्धृता पदपङ्क्तिस्तत्प्रयोजनपुरःसरम्-'यद्यपि स नास्ति कश्चिद्विषयः यत्र ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोः स्वप्रभेदादिभिः सह सङ्करः संसृष्टिर्वा नास्ति तथापि प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्तीति क्वचित्केनचिद् व्यवहारः'।

उ० ३—ननु 'अयं स रशनोत्कर्षी' इत्यत्र प्रकरणगम्यस्य करुणस्य प्राधान्येन सम्भवति ध्वनित्वे कथं गुणीभूतव्यङ्ग्यतेत्याशङ्क्ते—'यद्यपि स' इत्यादि। यद्वा ननु रसध्वनौ भावध्वनिरवश्यं वाच्यः। तथा च कञ्चन प्रधानव्यङ्ग्यमादाय ध्वनित्वं कञ्चनाङ्गभूतमादाय गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमिति निमित्तद्वयसमावेशाद्विनिगमनाविरहे कथं व्यपदेशनियम इत्याशङ्क्ते—यद्यपि स इत्यादि। कश्चिद्विषयः कश्चिदाश्रयः ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोः उत्तममध्यमकाव्ययोः स्वप्रभेदादिभिरिति। स्वशब्देन ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोर्ग्रहणम्। प्रभेदोऽवान्तरभेदः। आदिपदेन विजातीयप्रभेदपरिग्रहः। सङ्करः अङ्गाङ्गित्वात्। द्वयोः प्राधान्ये संसृष्टिः। सर्वत्र रसध्वनौ भावध्वनेः सत्त्वेन तयोरुपकार्योपकारकतया सङ्करापत्तिः। अवान्तरध्वनीनां प्रधानध्वनिरूपेतराङ्गतया गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य चापत्तिरिति यद्यपि साङ्कर्यादिकमस्ति तथापि 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ती'ति न्यायेन यत्र यन्मुखेन चमत्कारस्तत्र तेनैव व्यवहारः। प्राधान्यं च चमत्कारप्रयोजकत्वम्। तथा चाङ्गीभूतरसादीनां चमत्कृत्यतिशयत्वे गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमङ्गिनस्तथात्वे ध्वनित्वमिति भावः। एवञ्च 'अयं स रशनोत्कर्षी'त्यादौ करुणध्वनावपि गुणीभूतव्यङ्ग्यमुखद्वारेणैव चमत्कार इति तेनैव व्यवहारो न ध्वनित्वेन सहृदयहृदयसाक्षिकः। एतेनोक्तोदाहरणे मुख्यत्वेन करुणस्यैव प्राधान्यमिति निरस्तम्। शृङ्गारवर्णने कवेः सरम्भात्।

प्र० ४—'एषां भेदा यथायोगं वेदितव्याश्च पूर्ववद्' व्याख्यायतामिदं सूत्रार्धं वृत्त्युक्तकथनविशेषं लक्ष्यीकृत्य 'वस्तुमात्रेण यत्रालङ्कारो व्यज्यते न तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम्' इति।

उ० ४—अनेनोक्तानामष्टानामेव गुणीभूतव्यङ्ग्यानामवान्तरभेदानाह-एषामिति। शुद्धभेदानाह—एषामिति। एषामुक्तप्रकाराणां गुणीभूतव्यङ्ग्यानां भेदाः पूर्ववच्च ध्वनिभेदवत् यथायोगं यथासम्भवं वेदितव्या बोद्धव्याः। अयं भावः। न केवलमेते अष्टावेव गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य भेदाः। किन्तु अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य-

त्वादिभिरुपाधिभिः यथा ध्वनेर्भेदास्तथाऽसम्भविनो विहायास्यापि तैरुपाधिभिः शुद्धभेदाः सङ्करसंसृष्टिभ्यां योजने च तेषामिवैषां च सङ्कीर्णभेदा अपि बोद्धव्याः । असम्भविनश्च वस्तुमात्रेणालङ्कारनिबन्धनाः । एवञ्च यत्र वस्तुनाऽलङ्कारव्यक्तिस्तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं मा प्रसाङ्क्षीदिति यथायोगमित्युक्तं बोध्यम् । तत्र ध्वनिकारसम्मतिमाह—'व्यज्यन्ते' इति । यथा 'व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदाऽलंकृतयस्तदा । ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासां काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्[1] ॥' इति । अस्य व्याख्यानम् । यदा वस्तुमात्रेण वाच्यालङ्काररहितेनालंकृतयोऽलङ्काराः व्यज्यन्ते तदा तासामलङ्कृतीनां ध्रुवं निश्चयेन ध्वन्यङ्गता ध्वनिव्यवहारप्रयोजकता । वाच्यवस्त्वपेक्षयाऽलङ्कारव्यञ्जनेनातिशायितया ध्वनित्वनिर्वाहकतेति यावत् । कुतः काव्यवृत्तेः काव्यव्यवहारस्य तदाश्रयात् अलङ्कारसापेक्षत्वादित्यर्थः इति ध्वनिकारोक्तदिशा न तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमिति । अयं भावः । वाच्याद्वस्तुनोऽलङ्कारस्य चारुत्वनियमेन अगूढत्वादिना व्यङ्ग्यत्वाधीनचारुत्वापनयेऽपि अलङ्कारत्वरूपता चारुता अव्याहतैवेति सर्वत्र वस्तुव्यङ्ग्यालङ्कारस्थले ध्वनित्वमेव न गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम् । वस्तुमात्रेण इत्यनेन वाच्यालङ्काररहितेनेत्यर्थः । तत्सहितवस्तुनाऽलङ्कारव्यञ्जने यत्र तु वाच्यालङ्कारापेक्षया व्यङ्ग्यस्य तस्य चारुत्वं तत्र ध्वनित्वमेव । यत्रालङ्कारव्यङ्ग्यालङ्कारस्य चारुत्वं तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमेव तथा च वस्तुव्यङ्ग्यालंकृतिभेदहीनः द्विचत्वारिंशत्प्रकारः शुद्धो गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदः ।

एवञ्च स्वतः सम्भविकविप्रौढोक्तिसिद्धकविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धवस्तुव्यङ्ग्यालङ्काराणां पदवाक्यप्रबन्धगतत्वेन त्रिरूपतया वस्तुव्यङ्ग्यालङ्कारस्य नवविधत्वमिति ध्वनिभेदैकपञ्चाशतो (५१) नवन्यूनेन (५१–९) अष्टानां भेदानां प्रत्येकं द्विचत्वारिंशद्विधत्व (४२) मिति मिलित्वा गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य षट्त्रिंशदधिकत्रिशत (३३६) भेदाः (४२ × ८ = ३३६) शुद्धाः । एषमस्य संसृष्टिसङ्कराभ्यां (३३६ × ४ × ३३६ = ४५१५८४) चतुरशीत्यधिकपञ्चशताधिकैकपञ्चाशत्सहस्रोत्तरचतुर्लक्षभेदाः संकीर्णाः शुद्धभेदैः सह (४५१५८४ + ३३६) विंशत्यधिकनवशतोत्तरैकपञ्चाशत्सहस्राधिकचतुर्लक्षभेदाः (४५१९२०) । गुणनप्रकारस्तु ध्वनिस्थलीयोक्तदिशाऽवगमेयः इति ।[1]

---

१. कारिकाविवरणप्रकरणेऽस्य प्रसङ्गो विस्तरशोऽवलोकनीयः ।

प्र० ५—'सालङ्कारैर्ध्वनेस्तैश्चे' ति सूत्रस्य व्याख्याने वृत्तौ मूलग्रन्थे कथितं तावत् 'शृङ्गारस्यैव भेदप्रभेदगणनायामानन्त्यम्। का गणना तु सर्वेषाम्? सङ्कलनेन पुनरस्य ध्वनेस्त्रयो भेदाः। व्यङ्ग्यस्य त्रिरूपत्वात्' इत्युक्त्वा कथं तत्त्रैविध्यं प्रदर्शितम्? तथा च यैः प्रतिपक्षिभिः 'ननु व्यञ्जनायाः शशविषाणायमानत्वात् कुतो व्यङ्ग्यत्रैरूप्यकृतो भेदः' इत्युक्त्वा व्यङ्ग्यं व्यञ्जनाव्यापार एव वा शब्दस्य न स्वीक्रियते तेषां मते का विप्रतिपत्तयस्तथा च तासां विप्रतिपत्तीनां निरासश्च ग्रन्थे कथमुपदर्शितः, इत्येतत् सर्वं समासेनानूद्यताम्।

उ० ५—सालङ्कारैरिति। 'भागस्य सम्प्रती'त्यादिगुणीभूतव्यङ्ग्योदाहरणे स्थितैः समासोक्त्यादिभिः अलङ्कारयुक्तैर्गुणीभूतव्यङ्ग्यैर्वा गुणेन तेषां चैकरूपया ससृष्ट्या त्रिविधेन सङ्करेण गुणने पुनः परस्परं योगे निष्पन्नसंख्याया अतिबाहुल्येन संख्यातुमशक्यत्वात् संक्षेपविस्तराभ्यां शास्त्रप्रवृत्तिरित्युक्तदिशा संक्षेपेण गणनाप्रकार उच्यते। सङ्कलनेन पुनरिति। वस्त्वलङ्काररसरूपत्वेन ध्वनेस्तावत् त्रैविध्यम्। तत्रापि किञ्चिदभिधया वक्तुं शक्यम्। किञ्चिदन्यथेति द्वैविध्यमेव। तत्र वस्त्वलङ्कारयोः शक्तिप्रतिपाद्यत्वमस्ति। रसस्य व्यङ्ग्यत्वान्न शक्तिप्रतिपाद्यत्वम्। तस्य रसशब्देन शृङ्गारादिशब्देनाऽनभिधानादभिधाने च प्रत्युत दोषस्यैव वक्ष्यमाणत्वात्। 'शून्यं वासगृहम्' इत्यादौ रसादिपदानामप्रयोगेऽपि विभावादिघटितसामग्र्या सत्त्वेन रसोत्पत्तेर्दर्शनाद् अन्वयव्यतिरेकाभ्यां विभावादिसामग्रीसत्त्वे रसचमत्कारविषयत्वमिति निर्णीयते। लक्षणाहेतूनां मुख्यार्थबाधादीनामभावात् रसस्य लक्षणीयत्वं वक्तुमशक्यम् प्रतीतेश्च सकलजनसंवेद्यत्वात् वृत्तिं विना बोधादर्शनाद् व्यञ्जनानामिका वृत्तिः रसप्रत्यायनायावश्यं कल्पनीयेति रसस्य व्यङ्ग्यत्वम्।

लक्षणामूलगूढव्यङ्ग्यप्राधान्ये 'त्वामस्मि'—'उपकृतमि'त्यादौ लक्ष्यभावाख्प्रयोजनवत्यां प्रयोजनस्य व्यञ्जनाव्यापारगम्यत्वमेवेत्युक्तं प्रागिति वस्तुमात्ररूपं व्यङ्ग्यमवश्यमपेक्षितमिति तन्मूलकत्वादेव वस्तुध्वनिरिति व्यवहारः। शब्दशक्तिमूले तु अभिधाया नियन्त्रणेनानभिधेयस्यार्थान्तरस्य तेन सहोपमादेरलङ्कारस्य च निर्विवादं व्यङ्ग्यत्वम्। अर्थशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्थलेऽपि अभिहितान्वयवादिमते घटादिपदानां घटव्यक्तिमात्रबोधनेनोपक्षीणानां समीपस्थाच्छिद्रा-

दिप्रतीतौ च आकाङ्क्षायोग्यतादीनां कारणत्वं वाच्यमिति वाक्यार्थोऽप्यपदार्थस्तत्र तृतीयकक्षायां प्रतीतस्य व्यङ्ग्यार्थस्य कथमभिधाजन्यप्रतीतिविषयत्वं वक्तुं शक्यते। अन्विताभिधानवादिनः 'विषयतासम्बन्धेन शाब्दबुद्धिं वावच्छिन्नं प्रति विषयतासम्बन्धेन वृत्तिज्ञानाधीनोपस्थितिः कारणम्' इति सामान्यतः कार्यकारणभावमाहुः। ततश्च संसर्गे शक्तिविषयताया अभावे शाब्दविषयताया असम्भवात्। तत्रापि पदानां शक्तिमेव स्वीचक्रुः। उपपत्तिं चात्र वदन्ति। शक्तिग्राहकेषु मुख्यो व्यवहार एव कोशाप्तवाक्यादिभिरपि शक्तिग्रहो बहुष्वन्येषु पदेषु शक्तिं जानतामेव सम्भवति। यो हि नारायणपदार्थं न जानाति इदं पदार्थं वाच्यत्वपदार्थं वा स 'विष्णुर्नारायणः कृष्णः' इति कोशाद्वा 'अयं घटपदवाच्यः' इति आप्तोपदेशाद्वा विष्णुपदस्य घटपदस्य वा शक्तिं ज्ञातुं न शक्नोति। व्यवहारेण तु सर्वथा शक्तिज्ञानशून्योऽपि ज्ञातुं शक्नोति। तद्यथा—स्वामिना भृत्यं प्रति 'घटमानय' इत्युक्ते तटस्थोऽन्योऽप्युपस्थितस्तदीयं शब्दं शृणोति। पश्चात् भृत्यं घटं चावलोकयति। भृत्यस्य च प्रवृत्तिं पश्यति। तया प्रवृत्त्या तदात्मनि कृतिमनुमिनोति। कृत्या चिकीर्षां, चिकीर्षया इष्टसाधनत्वज्ञानम्। स्वशरीरप्रवृत्तौ तेषां नियमदर्शनादनन्तरं च तस्मिन् इष्टसाधनत्वज्ञाने एतद्वाक्यजन्यत्वमेतद्वाक्यश्रवणं विनाऽविद्यमानत्वे सति एतद्वाक्योत्तरत्वादिति हेतुनाऽनुमिनोति। ततश्च घटानयनं मदिष्टसाधनमिति भृत्यसमवेते ज्ञाने एतद्वाक्यजन्यत्वज्ञानमेवाखण्डवाक्यार्थयोः प्राथमिकः शक्तिग्रहः। अत्रानयोर्वाक्यवाक्यार्थयोः सम्बन्धाभावे एतद्वाक्याधीना एतद्वाक्यप्रवृत्तिर्न स्यादिति वर्णापत्तेराकारः। स च सम्बन्धः 'इदं वाक्यं वाचकम् अयमर्थो वाच्यः' इत्येतन्मात्राकारः एकत्र वाच्यमन्यत्र वाचकं चेत्यन्तर्भाव्य ज्ञायते यत्पुनर्बोधनियमो न प्राप्नोति। अतः वाच्यवाचकभावरूपः सम्बन्ध एवानयोः इत्यसौ द्व्यात्मकः। अनन्तरं पदान्तरावापोद्वापाभ्यामानयनादावागेऽपि घटादिज्ञानेन साकं यथानियमस्तथा भवत्यज्ञानेनापि। नहि केनापि अमत्ज्ञो घटः भृत्यप्रवृत्तिविषयः 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती'त्यादिप्रतिपादकमात्रेषु स्वामिनोक्तेषु भृत्यप्रवृत्त्यदर्शनात्। ततश्चानयनादेरिव कर्मत्वादेरपि ससर्गस्य 'घटमानय, घटेनानय, घटे आनय'त्यादौ व्यभिचारदर्शनाद्विसम्बन्धसामान्यस्याव्यभिचारात् पदार्थान्तरसम्बन्धी 'घटो घटपदवाच्य' इत्येव शक्तिग्रहाकारः पर्यवस्यति। अत एव न शक्यानन्त्यं तथा न पदान्तरवैयर्थ्यमपि। एवं स्थिते लाघवेन बाधादिना शाब्दबोधीयाया घटत्वावच्छिन्ना या

विषयताया वस्तुतः अच्छिन्नसमीपस्थत्वावृत्तित्वेऽपि यथा घटनिष्ठविषयताया अभिधाप्रयोज्यत्वे नानुपपत्तिः, तथा संसर्गत्वावच्छिन्नाया विषयताया वस्तुतः कर्मत्वादिसंसर्गविशेषनिष्ठत्वेऽपि नाभिधाप्रयोज्यताबाधः । एतन्मते अवच्छेदकानां सामान्यमवच्छेदकत्वे विशेषश्च शक्तिविषय इति फलितम् ।

अन्विताभिधानवादी सङ्केताभावेऽपि घटत्वसामान्ये वस्तुतः अच्छिन्नघटविशेषे च सङ्केतग्रहात् एव ससर्गेऽपि । एतावता प्रबन्धेन सम्बन्धांशे पदशक्तिसाधनेन पदेन पदार्थविशेषेण सह सम्बन्धविशेषणान्वितघटविशेषस्य शक्त्या बोधनोत्तरं च पश्चादन्योऽर्थः प्रतीयते तत्र शक्तिविषयता न सम्भवति पदव्यापारस्योपक्षीणत्वात् । कार्यात्कारणं गम्यते इति घटपदानन्तरं घटबोधदर्शनेन यथा घटपदस्य तद्बोधजनकतारूपा शक्तिरनुमीयते तथा तिन्तादौ स्यादौ तदन्तिकमेव गतासाति प्रतीत्या तज्जनकत्वं तस्मिन्नवश्यं कल्पनीयमेव बोधजनकतैव शक्तिरित्यलं व्यञ्जनयेति श्रीशङ्कुकस्याशयः । समाधाता तु शक्तेर्विषयमुपपादयन् पदनिष्ठायाः स्वरूपसत्या अकारणत्वाच्छक्तिग्रहस्यापेक्षितत्वात् शक्तिग्रहस्य च पूर्वमभावे कथमभिनवकविविरचितवाक्यैस्तादृशार्थप्रतीतिरिति तत्प्रतीतये शब्दगतः अभिधाभिन्नः व्यञ्जनाख्यो व्यापार आवश्यक इत्याह ।

केचन मीमांसकाः—तात्पर्यबोधजनकत्वरूपाया अभिधाया एव व्यापारविशेषं मन्यमानाः अर्थवादवाक्यानां प्राशस्त्यनिन्दायां वाऽशक्यायामपि बोधोपपत्तिं वदमालोचयन्तस्तद्वदेव तात्पर्येणैव व्यङ्ग्यार्थप्रतीतिसिद्धेः अलं व्यञ्जनयेत्याचक्षते । तेषामयमाशयः—यदवच्छेदे नहि प्रामाण्यमिष्यते । न च 'प्लवन्ते ग्रावाणः' 'प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत्' इत्यादिबाधितार्थकानां प्रामाण्यसम्भवति । 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' इत्यादीनामबाधितार्थकानामपि तदर्थस्य लोके अवगतत्वात् अनधिगतार्थविषयकबोधजनकत्वरूपं प्रामाण्यमसम्भवमेव । अतस्तेषां प्रवर्तनीयक्रियाया निवर्तनीये वा विषये प्रशंसानिन्दान्यतरबोधने एव तात्पर्यम् । एवं व्यङ्ग्ये रसादावपि भविष्यति । तन्नेदं वक्तव्यम्—नातिगुणदव्याणां लोकावगतत्वाद्विधिवाक्यत्वेऽपि तद्बोधकानां पदानामनधिगतार्थविषयकप्रतीतिजनकत्वाभावेऽपि प्रवर्तनीयक्रियान्वयेन क्रियाविशेषबोधनादनधिगतार्थत्वादि वक्तव्यम् । नहि व्रीहिभिर्यजेत इत्युक्ते व्रीहिस्वरूपं प्रागनवगतं किन्तु याग एव । अत स एव अपूर्वबोध्यत्वेन विधेयः । तदाह सूत्रकारः भावार्थाः कर्म

शब्दाः तेभ्यः क्रिया प्रतीयते एष ह्यर्थो विधीयत' इति। क्रियैव कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं वा शक्यत्वाद् विधातुं योग्या। जात्यादयस्तु न तथा। परन्तु कारकैर्विशेषितस्य तस्य यागमात्रस्य विधित्सितत्वात् यागविशेषस्वरूपज्ञापनाय जात्यादय उपयुज्यन्ते। तदाह—'भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते' इति भूतं सिद्धं जात्यादि। भव्या जन्यत्वेनैव प्रतीयमानानां क्रिया। तत्र यद्यपि क्रियाया इव तत्क्रियानिरूपितव्रीह्यादिनिष्ठकारणत्वादेरपि अनवगतत्वात् करणत्वादिपुरस्कारेण व्रीहिरपि प्रागनवगत इति विधातुं शक्यः, तथापि क्रियायां विधेयत्वे विशेषस्यैवानवगमात् अनधिगतार्थविषयकज्ञानजनकत्वं सुलभम्। व्रीह्यादिपदानान्तु विशेषणानवगतप्रयुक्तमिति परम्परया तद्वक्तव्यम् तत्र माध्याप्रामाण्यासम्भवे परम्परया तत्किमिति वक्तव्यमिति। क्रियैव सर्वत्र विधीयते इति सूत्रकृदाशयः। परं तु यत्र 'व्रीहिभिर्यजेते'त्यादिना त्रियाविशेषोऽवगमितः तत्र पश्चात् पठितेन 'समे यजेते'त्यादिना यागस्य विधातुमशक्यत्वाद्गत्या समे देशे तदधिकरणत्वमात्रं विधीयते तदाह 'अदग्धदहन' न्यायेन यावदप्राप्तं तावद्विधीयते इति। आद्यवाक्ये तु करणत्वाकारेण व्रीहयोऽपि यागोऽपि चेति द्वयमनधिगतमेव विधीयते। समे यजेतेत्यनेन तु समदेश एवेति। एवंजातीयको गुणविधिरित्युच्यते। आद्यस्तु विशिष्ट इति एवं विशेषणान्तरयोरेऽप्यूह्यम्। यथा—'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' इत्यत्र लोहितोष्णीषत्वमात्रं विधेयम्। यथा वा 'रक्तं पटं वये'त्यादौ। यत्र तु लौकिकवाक्येष्वपि 'मास्य गृहे भुङ्क्थाः' इति एकवाक्यसमीपे आप्तेन 'वरं विषं भक्षये'त्युच्यते तत्रास्यास्य विषभक्षणे प्रवर्तनासम्भवात् वाक्यैकवाक्यं तया तात्पर्यानुपपत्त्या तद्गृहभोजने निन्दायां लक्षणाऽऽश्रीयते तेन विषभक्षणादधिकानिष्टजनकं तद्गृहभोजनमिति वाक्यैकवाक्यता सम्पद्यते। तदाह—'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्यु'रिति तेन पूर्वप्रदर्शितद्विविधार्थवाक्यानां स्तुतौ निन्दायां वा लक्षणेति पर्यवस्यति। एतावता सर्ववैदिकवाक्यानामनधिगतार्थविषयकज्ञानजनकत्वं परिरक्षितं भवति। यत्र तु 'शून्यं वासगृहमि'त्यादौ स्वार्थे तात्पर्यानुपपत्तिरेव नास्ति तादृशेऽभिधामूलव्यङ्ग्ये कारणाभावेन लक्षणाया असम्भवात्। अभिधायाश्च सङ्केतितार्थमात्रबोधनेनोपक्षीणत्वात् पश्चाज्जायमाना व्यङ्ग्यार्थप्रतीतिर्वृत्त्यन्तराश्रयणं विना न सम्भवतीति आवश्यकी व्यञ्जना।

इदानीं 'यदि च शब्दश्रुते०'रित्यादिग्रन्थेन व्यञ्जनानङ्गीकारे दोषदृष्टिमाह—शब्दश्रवणप्रत्यव्यवहितोत्तरं यदर्थविषयकप्रतीतिः सा शक्तिजन्यैवेत्युक्तं 'ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः, कन्या ते गर्भिणी'त्यादि स्थले मुखप्रसादमुखमालिन्यादिनाऽनुमितहर्षशोकबुद्धीनामभिधानन्यं च स्यात्। किञ्च 'गङ्गायां घोष' इत्यादावपि दीर्घदीर्घतराभिधाव्यापारेणैव तीररूपार्थप्रतीतिसिद्धौ लक्षणाया अनुपयुक्तत्वं स्यात्। किञ्च 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षा'दिति जैमिनीयसूत्रेण लिङ्गादीनामुत्तरोत्तरं विलम्बेनार्थोपस्थापकतया श्रुतेश्च सर्वापेक्षया आद्योपस्थितत्वेन बलीयस्त्वमित्युक्तम्। तत्र लिङ्गापेक्षया श्रुतेर्बलवत्त्वे उदाहरणम् 'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इति। अत्र इन्द्रो देवता अस्येत्यैन्द्रीति व्युत्पत्त्या तस्या ऋच इन्द्रोपस्थानाङ्गत्वे प्राप्तेऽपि गार्हपत्यमिति श्रुतिबलवत्त्वात् लिङ्गोपस्थापितेन्द्रोपस्थानरूपार्थस्य बाधे इन्द्रदेवताकऋचाऽपि गार्हपत्य स्तूयते। तत्र यदि शब्दश्रुत्यनन्तरोपस्थितसकलार्थबोधनेऽभिधाव्यापारः स्यात्तदा श्रुत्युपस्थापितार्थस्येव लिङ्गाद्युपस्थापितार्थस्याप्यभिधेयतया सर्वेषां समकालेनैवार्थोपस्थापकत्वेन श्रुतिनोक्तमर्थविप्रकर्षत्वमनुपपन्नं स्यात्। एवञ्च इषुस्थले स्वरूपमन्तरेण कारणत्वेन तथा वक्तुं शक्यत्वेऽपि पदेऽर्थबोधानुकूलशक्ते लक्षणाया एव कारणत्वात्तन्निवेशोपपत्तौ यादौ तदन्तिकमेव रमतु गमनासीत्यादिविधे अभिधाप्रतिपाद्यत्वाभावेन व्यङ्ग्यत्वं सिद्धमेव।

किञ्चान्विताभिधानवादिमते व्यञ्जनानङ्गीकारे कष्टत्वादीनां नित्यदोषत्वम् साधुत्वादीनामनित्यदोषत्वमिति विभागकरणमनुपपन्नं स्यात्। तदङ्गीकारे च शृङ्गाररसे व्यङ्ग्ये परुषवर्णस्य प्रतिकूलत्वेन दोषत्वं, वीरादिरसे व्यङ्ग्येऽनुकूलत्वेन गुणत्वमिति भवति नित्यानित्यदोषव्यवस्था। 'द्वय गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः' इत्यादौ च कपालिपिनाक्यादिपदयोः शिववाचकत्वेऽपि कपालिन इत्युक्त्या दरिद्ररूपार्थप्रतीत्या शोचनीयत्वस्य युक्तता सङ्गच्छते।

वाच्यव्यङ्ग्यभेदमूलक एव वाचकव्यञ्जकशब्दयोर्भेद इति दर्शयति। यच्च कश्चिदित्य घटाद्यर्थोपपन्ना सङ्केतितार्थ एव। अभिधाया उक्तत्वात्, व्यञ्जकस्तु न तथा। किञ्चासुन्दराख्ये गुणीभूतव्यङ्ग्योदाहरणे 'वानीरकुडङ्गे'त्यादौ प्रतीयमानं व्यङ्ग्यमनपेक्ष्य सीदत्यङ्गानीति वाच्यमेव सचमत्कारं शृङ्गारं परिपो

यति। तत्र तात्पर्योऽविषय। दत्तसङ्केत कश्चिल्लतागहन प्रविष्ट इति व्यङ्ग्यरूपो वाचकशब्देनाप्रतिपाद्यमानोऽपि प्रतीतिगोचरीभूत व्यञ्जनाव्यापार विना केन बोधयितु शक्य। न च 'गतोऽस्तमर्क' इत्यादिस्थले व्यङ्ग्यार्थस्य नानाविधस्य प्रतीतिवत् लक्ष्यार्थेऽपि 'रामोऽसौ भुवनेषु', 'रामेण प्रियजीवितेन', रामोऽस्मि सर्वं सहे' इत्यादौ क्रमेण एक एव रामशब्द खरदूषणादिनिहन्तृत्वेन अत्यन्त निष्करुणत्वेन सर्वदु खसहिष्णुत्वेन प्रतीयत इति नानार्थबोधक, किञ्च व्यङ्ग्य स्थले 'स्वामस्मि' इति श्लोके स्वामित्वस्य प्रीतिपात्रत्वाद्यर्थान्तरसङ्क्रमेणन यथा विशेषव्यवहारकारणत्वम् तथैवात्रापि निष्करुणत्वादिबोधनेन विशेषव्यवहारहेतु रपि। किञ्च व्यञ्जनाऽभिधामूला लक्षणामूला चेति शब्दार्थायत्ता लक्षणाऽपि शब्दे आरोप्यत इति शब्दायत्ता। मुख्यार्थबाधज्ञाने मुख्यार्थज्ञानस्यावश्यक त्वात् अर्थायत्ता च प्रकरणादिसापेक्षत्वमुभयत्रापि तुल्यमेवेति न लक्षणाव्यञ्जनयोर्भेद इति चेदुच्यते। रामशब्देन निष्करुणत्वादीना नानार्थाना प्रतीतावपि न तथा वक्तु शक्यम्। एककाले उच्चारितरामशब्दस्य तादृशनानार्थबोधजनक त्वात्। 'रामोऽस्मी'त्यत्रोच्चारितरामशब्देन सर्वदु खसहिष्णुत्वविशिष्टरामस्यैव बोधात्। 'गतोऽस्तमर्क'इत्यादौ तु एककाल एव नानार्थप्रतीतिरिति तदपेक्षया लक्षणाया वैलक्षण्यम् किञ्च 'गङ्गाया घोष' इत्यादौ तीरेण साक सामीप्यादि सम्बन्धस्य सत्वाल्लक्षणेति सा नियतसम्बन्धे एव भवति। व्यञ्जना तु 'अत्था एत्थे'त्यादौ नियतसम्बन्धे, 'कस्स वा ण होइ रोसो' इत्यादौ वक्ष्यनीयत्वाद्यनियत सम्बन्धे, सम्बद्धसम्बन्धे 'विपरीअरए' इत्याद्यनुरणनरूपव्यङ्ग्यस्थलेऽपीति व्यञ्जना लक्षणयोर्भेदोऽवश्य वाच्य एव। अन्यथा 'अत्था एत्थे' त्यादौ लक्षणाहेतुना मुख्यार्थबाधादीनामभावात् 'यथेष्ट मम शय्यायामेव स्वपिहि'त्यर्थ कथ प्रतीयेत? किञ्च न लक्षणास्वरूपमेव ध्वननम्। लक्षणामुपजीव्य ध्वनेर्दर्शनात्। कार्यकारणयोस्तादात्म्यस्याभावात्। लक्षणानुगतमेव ध्वननमित्यपि न वाच्यम्। 'भद्रात्मन०' इत्यादिश्लोके अभिधामूलव्यञ्जनाया सत्त्वात्। अवाचकाना टका रम्कारादीना रौद्रादिव्यञ्जकत्वादभिधालक्षणोभयानुसार्येवेत्यपि न वक्तु शक्यम्। नेत्रत्रिभागावलोकनादीनामपि व्यङ्ग्यत्वेन शब्दानुसारीत्यपि न शक्यते वक्तुमिति अभिधातात्पर्यलक्षणातिरिक्त ध्वननद्योतनादिपर्याय व्यञ्जनाव्यापारोऽवश्यमाश्रयणीय एव। अत्र वैयाकरणा अखण्डबुद्धया पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा

न चेत्युक्त्या 'वाक्यस्फोटोऽतिनिष्कर्षे सिध्यतीति मतस्थितिरिति वाक्य स्फोटस्यैव सिद्धान्तितत्वात् अखण्डवाक्यस्य वाक्यार्थे शक्ते सत्त्वात् वाक्यगम्ये व्यङ्ग्यार्थे शक्तिरेवेत्याहु । पर तेषामपि मते 'शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोप वर्ण्यते । इति 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा तत सत्य समीहते' इति स्वीकारात् पञ्चपदार्थेऽन्वयव्यतिरेकाभ्या सूक्ष्मतया निरीक्ष्यते । 'नि शेषे'त्यादिश्लोके तदन्ति- कमेव गतासीति विधे शक्त्यानुपस्थितत्वाल्लक्षणायाश्चानवसरात् विध्यर्थप्रत्याय- नाय व्यञ्जनानामिका वृत्तिरवश्य स्वीकार्यैव । अत्र केचित्—

'याऽर्थान्तराभिव्यक्तौ व सामग्रीष्टनिबन्धनम् सैवानुमितिपक्षे नो गम कत्वेन सम्मते' इत्यादिना व्यङ्ग्यार्थस्यानुमानेनैव गतार्थत्वान्न व्यञ्जनास्वीका रस्य प्रयोजनमित्याहु । तथाहि न खलु प्रतीतिविषयीभूतोऽर्थो वाच्यादसम्बद्धो भवति तथात्वे सर्वस्माच्छब्दात्सर्वार्थोऽवगतिप्रसङ्गात् । एवञ्च सम्बन्धाद्व्यङ्ग्य व्यञ्जकभावो व्यभिचारे नियमेन भवतीति सपक्षसत्त्वेन पक्षसत्त्वेन विपक्षव्या वृत्तत्वेन च लिङ्गाद्धेतो लिङ्गिन ज्ञान साध्यविषयकज्ञान यत्तद्रूप एव व्यङ्ग्य- व्यञ्जकभाव पर्यवस्यति । तत्रोदाहरति । 'भ्रम धर्मिमेति' अत्र यद्भीरुभ्रमण तत्तद्भयकारणनिवृत्त्युपलब्धिपूर्वकम् गोदावरीतीरञ्च सिंहवत् अत भीरुभ्रम णायोग्यमिति भ्रमणाभावोऽनुमितावेव पर्यवस्यतीति किमर्थं व्यञ्जना पृथक् स्वीक्रियते । तत्रोच्यते नात्रानुमानावसर । पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्यानु- मितिं प्रति पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन हेतुनिश्चयस्य कारणत्वेन प्रकृते हेतुनि श्चयाभावात् । न खलु 'यद्भीरुभ्रमण तत्तद्भयकारणनिवृत्त्युपलब्धिपूर्वकम्' इति नियम । गुरो स्वामिन आज्ञया, कान्तानुरागेण, द्रव्यादिलाभाशया वा भीरोरपि गमनसम्भवात् । किञ्च शूरत्वेन लोकनिन्दाभयात् श्वान हन्तुमनिच्छन्नपि सिंहमारणार्थं मयाऽवश्य गन्तव्यमिति गमने प्रवर्तते इति विरुद्ध । किञ्च गोदावरीतीरे सिंहसत्ता न प्रत्यक्षेणानुमानाद्वा निर्णीता किन्तु पुंश्चलीवचनात् । तस्य च अर्थेन सम नियतसम्बन्धे 'नद्यास्तीरे फलानि सन्ति' इत्यादि वाक्यानां प्रामाण्यमिव प्रकृते अर्थेन सम नियतसम्बन्धाभावात् प्रामाण्यस्य वक्तुमशक्यतया हेतो असिद्धत्वमपि । एवञ्च हेतोर्दुष्टत्वात् कथ तेन भ्रमणाभा- वस्य साध्यास्यानुमितिर्वक्तु शक्या । एव 'नि शेषे'त्यादौ उपभोगव्यञ्जकतयोक्ताना चन्दनच्यवनादीना तत्रैवोक्तस्नानादिकारणान्तरेणापि सद्भावाद्व्यभिचारित्वेन

नानुमितिसाधकत्वं वाच्यम् । अत एव व्यक्तिवादिना दूतीप्रेषणात्पूर्वं नायकस्याधमत्वे प्रेषणस्यानुपपन्नत्वात् । तदुत्तरं कारणान्तरस्याभावेऽपि अधम इत्युक्त्याऽधमपदसहायानां चन्दनच्यवनादीनां व्यञ्जकत्वमुक्तम् । व्यञ्जनावादिमते व्याप्त्यभावेऽपि व्यङ्ग्यार्थप्रतीतेः सर्वसम्मतत्वान्नोपपत्तिप्रदर्शनावश्यकतेति सर्वमवदातम् ।

प्र० ६—व्याख्यायतामियमुद्धृता पङ्क्तिस्तत्रस्थाशयं सुविशदीकुर्वता—'अर्थशक्तिमूलेऽपि विशेषे सङ्केतः कर्तुं न युज्यते' इति सामान्यरूपाणां पदार्थानामाकाङ्क्षासन्निधियोग्यतावशात् परस्परसंसर्गो यत्रापदार्थोऽपि विशेषरूपो वाक्यार्थस्तत्राभिहितान्वयवादे का वार्ता व्यङ्ग्यस्याभिधेयतायाम्' इति ।

उ० ६—अथार्थशक्तिमूलयोर्वर्णालङ्कारयोर्वाक्यार्थावगमोत्तरगम्यतयाऽभिहितान्वयवादिमते वृत्त्यन्तरेणैवावगम इत्यमभिदधत् अभिहितान्वयवादे व्यङ्ग्यस्याभिधेयतां निराकरोति 'अर्थशक्तिमूलेत्यादिना' 'अभिधेयतायाम्' इत्यन्तेन । विशेषे तत्तद्व्यक्तिविशेषे, सन्निहितगवादिव्यक्ताविति यावत् । सङ्केतः सङ्केतग्रहः । न युज्यते न पार्यते शक्यते वा । आनन्त्याद्व्यभिचाराच्च व्यक्तीनाम् । यद्वा विशेषे पदार्थसंसर्गे । न युज्यते । वाक्यार्थस्यापूर्वत्वेन प्रागनुपस्थितेः सामान्यरूपाणां जातिरूपाणाम्, जातिरेव पदार्थ इति मीमांसकसिद्धान्तात् । पदार्थानामाकाङ्क्षासन्निधियोग्यतावशात् । प्रतीत्यपर्यवसानमाकाङ्क्षा । अव्यवधानेनोपस्थितिः सन्निधिः । बाधाविरहो योग्यता । एतद्वशात् परस्परसम्बन्ध इत्यादिसहकारिकारणताज्ञानेन वक्ष्यमाणजातिगुणक्रियासंज्ञारूपाणामन्योन्यसम्बन्धे जनयितव्ये अपदार्थोऽपि शक्त्याऽप्रतिपद्यमानोऽपि तात्पर्याख्यवृत्तिरूपो वाच्यापेक्षया विलक्षणशरीरः विशेषरूपः समुल्लसति, तत्र व्यङ्ग्यस्य वाच्यार्थादपि दूरभावित्वादभिधेयतायाः कः प्रसङ्ग इत्यर्थः । अयं भावः—अर्थशक्तिमूलेऽपि यतः पदेभ्यः प्रथमं पदार्थस्मृतिः अथ पदार्थविशेषाणामन्वयविशेषरूपस्य वाक्यार्थस्य प्रत्ययः ततो व्यङ्ग्यप्रतीतिरिति तृतीयकक्षायां कुतोऽभिधायाः प्रसारणम् । द्वितीयकक्षायामेव तदनपेक्षणात् । यतोऽभिहितान्वयवादेऽन्वय एवान्वय आकाङ्क्षादिवशेन प्रतीयते । शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभाव इति च सर्वं सिद्धम्' इति ।

प्रश्न ७—अन्विताभिधानमतं परामृशता व्याख्यायेतामिमे कारिके ग्रन्थकृत्प्रतिपादितदिशा—

'शब्दवृद्धाभिधेयांश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति
श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया।
अन्यथाऽनुपपत्त्या तु बोधेच्छक्तिं द्वयात्मिकाम्
अर्थापत्त्याऽवबोधेन सम्बन्धं त्रिप्रमाणकम् ॥

उ० ७—येऽप्यन्विताभिधानवादिन —'देवदत्त गामानये'त्यादि प्रयोजकवृद्धवाक्यं श्रुत्वा बाल तदनन्तर प्रयोज्यवृद्धेन सास्नादिमन्तमर्थं देशान्तर नीयमानमालोक्यायमेतद्विषयकं तत्क्रियागोचरकार्यताज्ञानवान्, तद्विषयकचेष्टावत्त्वात् तद्विषयकप्रवृत्तिमत्त्वाद्वा, मद्वदिति प्रयोज्यवृद्धस्य ज्ञानमनुमिमीते। तत कारणं विना कार्यानुपपत्त्याऽखण्डवाक्यस्यान्वयव्यतिरेकिणस्तज्ज्ञानेन कार्यत्वकारणत्वरूपां शक्तिमवधारयति। अथ ज्ञेयसंबन्धं विना वाक्यस्य सा शक्तिरनुपपन्नेत्यर्थापत्त्याऽखण्डवाक्यार्थेनाखण्डस्य वाक्यस्य वाच्यवाचकभावरूपं सम्बन्धमवधारयति। यदुक्तं प्रश्नगतकारिकयो 'शब्दवृद्धे'त्यादिना। त्रिप्रमाणकमिति। जात्यपेक्षया त्रित्वम् न तु व्यक्त्यपेक्षया। एवमखण्डयो सम्बन्धमवधार्य विशेषतो व्युत्पद्यते इत्थम्—अनन्तर तेनैव प्रयोजकेन 'चैत्र, अश्वमानय, देवदत्त, गां नय' इत्यादि वाक्येषु कस्यचिदन्यपदस्याऽऽवापे कस्यचिदुद्धारे सति यस्य भागस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां यस्य वाक्यार्थभागस्यान्वयव्यतिरेकावुपलभते, तत्र तस्य शक्तिमवधारयति तत्र शक्त्यवधारणमन्वित एव पदार्थे, प्रथममन्वय एव वाक्यस्य शक्तिग्रहात्, पदार्थमात्रे शक्त्युपजीव्यविरोधात्, व्यवहारेणान्वितज्ञानस्यैवोपस्थापनाच्च, न च वाक्यं विना काचिद्वाक्यव्युत्पत्ति व्यवहारेणैवाव्युत्पत्ते, व्यवहारस्य च प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपस्य पदमात्रेण कर्तुमशक्यत्वात्, अतो वाक्यस्थितानामेव पदानामन्वितेष्वेव पदार्थेषु सङ्केतग्रहादन्विता एव पदशक्या, त एव च वाक्यार्थ इति न वाक्यार्थबोधे शक्तेर्विराम नत्वभिहिताना पदार्थानामन्वयोऽन्वय एव प्रतीयते, योग्यतादिवशादिति युक्तम्। ननु तथापि संसर्गविशेषोऽशक्य एव, पदार्थसामान्यान्वित एव शक्तिग्रहादन्यथा'गामानये'तिपद श्रुत्वाऽश्वमानयेत्यादिवाक्ये तदेवेदमानयपदमित्यादिप्रत्यभिज्ञा न स्यात्, पूर्वस्य गवान्वितानयनपरस्याश्वान्विताऽऽनयनेऽशक्यत्वेनार्थभेदेन भेदादिति चेन्न, पदार्थत्वेन सामान्येन विशेषाणामेवान्वये शक्तिग्रहात्, अन्विताना च विशेषरूपत्वादित्याहु —तेषामपि मते सामान्येनैव

रूपेण विशेषः शक्यो न तु विशेषरूपेण, तथा च पदार्थान्तरसामान्यान्वितपदानां शक्तिः, गवादिविशेषान्वितस्तु विशेषो वाच्य एव। तस्मादभिहितान्वयवादेऽनन्वित एवान्विताभिधानवादे ॥ पदार्थसामान्यान्वितः स्वार्थः सङ्केतविषयो, गवादिविशेषान्वितानयनादिरूपस्त्वसङ्केतित एवेत्यवाच्य एव वाक्यार्थः इति।

प्रश्न ८—'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते' इत्यस्य क आशयः ? कथं च तन्निराक्रियते ?

उ० ८—यदपि कैश्चिदुच्यते 'शब्दश्रवणानन्तरं यावानर्थः प्रतीयते, तत्र सर्वत्रापि शब्द एव निमित्तम्। यतो नैमित्तिकानुरोधेन निमित्तानि कल्प्यन्ते' इति तदप्ययुक्तम्। शब्दस्य ह्यर्थे निमित्तत्वं कारकत्वं ज्ञापकत्वं वा। न प्रथम शब्दस्यार्थानुत्पादकत्वात्। चरमं पुनरनुमन्यते, परंतु सङ्केतवेन ज्ञातस्य, अज्ञातस्य, स्वरूपमात्रेण ज्ञातस्य वा ज्ञापकत्वेऽतिप्रसङ्गात्। न चान्वयविशेषे सङ्केतग्रहः, अस्तु विशेष एव सङ्केतग्रह' इति चेद्, लोष्टाद्यन्वितानयनादेर्विशेषस्योपस्थापकान्तराभावेन शब्दादेवोपस्थितिर्वाच्या। तथा च तत्र सङ्केतग्रहे शब्दात्तदुपस्थितिः, शब्दाच्च तदुपस्थितौ सङ्केतग्रहः इत्यन्योन्याश्रयात् तस्मान्नैमित्तिकानुरोधेन निमित्तानि कल्प्यन्ते इत्यविचारितभिधानम्।

प्र० ९—परामृश्यतामियमुक्तिः 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापारः' इति, 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति च 'विधिरेवात्र वाच्यः' इति।

उ० ९—अथ 'सोऽयमिषोरिवेत्यादि', 'यत्परः शब्दः सशब्दार्थः' इति च 'निःशेषे' त्यादौ विधिरेव वाच्य इति भट्टमतोपजीविनो भट्टलोल्लटादयः। अस्यार्थे—यथा बलवता प्रेरितः इषुर्एकेनैव वेगाख्येन व्यापारेण वर्मच्छेदमुरोभेदं प्राणहरणञ्च रिपोर्विधत्ते तथा एक एव शब्दः एकेनैवाभिधाव्यापारेण पदार्थस्मृतिं वाक्यार्थानुभवं व्यङ्ग्यप्रतीतिं च विधत्ते। अतो व्यङ्ग्यत्वाभिमतस्यार्थस्य वाच्यत्वमेव। किञ्च यत्र शब्दस्य तात्पर्यं स शब्दार्थं इति 'नि शेषे'त्यादौ तात्पर्यार्थविषयतया विधिर्वाच्य एवेति। ते तात्पर्यवाचोयुक्तेस्तात्पर्यमजानन्तः पशवः (देवानां प्रियाः)। तद्वाक्यवर्त्तिपदोपस्थापित एव हि तात्पर्यमुच्यते, न प्रतीतिमात्रे। तथाहि 'भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते' इति सिद्धान्तः। अस्यार्थः-भूतं सिद्धं, भव्यं साध्यम् तयोः समभिव्याहारे भूतं सिद्धं भव्याय साध्यायोपदिश्यते इति कारकपदार्थाः क्रियापदार्थेनान्वीयमानाः सिद्धा अपि प्रधानक्रिया-

विघत्वाद्रौद्रादौ व्यङ्ग्येऽनुकूलत्व, शृङ्गारादौ [redacted] दुष्टत्वमिति युज्यते विभाग व्यवस्था। एव पर्यायेषु मध्ये कस्यचिदेव कुत्रचित्काव्येऽनुगुणत्वमित्यपि व्यवस्था न स्यात्, वाच्यार्थस्याविशेषात्। दृश्यते चासौ यथा—'द्वय गत सम्प्रति शोचनीयता समागमप्रार्थनया कपालिन' इत्यत्र न पिनाक्यादिपदमनुकूलम्, किन्तु जुगुप्साव्यञ्जकतया 'कपालि' पदमेव। ननु द्वयमप्येतदयुक्त, व्यङ्ग्य वे- नाभिमतस्य वाच्यत्वस्वीकार एवानुकूलत्वप्रतिकूलत्वयोर्व्यवस्थोपपत्तेरिति चेत् न, अभिधास्वीकारे सङ्केतग्रह विना तदनुपस्थितिप्रसङ्गस्योक्तत्वात्। किञ्च काव्ये शास्त्रे वा वाच्यव्यङ्ग्ययो प्रतिपत्तिहेतुव्यापारभेदनिबन्धनो भेदोऽवश्य स्वीकर्तव्य वैधर्म्यदर्शनात्। वाच्यो ह्यर्थं सर्वैरेक एव प्रतीयते इति नियत, व्यङ्ग्यस्तु वक्तृप्रकरणादिवशादनियत। तथाहि 'गतोऽस्तमर्क' इति वाक्ये राज्ञ सेनापतीन्प्रति 'शत्रूणामाहवेनावमर्दनावसर' इति, दूतीनामभिसारिका प्रत्यभिसरणमुपक्रम्यतामिति, सख्या वासकसज्जा प्रति 'प्रायप्रायस्ते प्रेयान्' इति कर्मकरस्य सहकर्म कुर्वत प्रति 'कर्मकरणान्निवर्तामहे' इति, भृत्यस्य धार्मिक प्रति 'सान्ध्यो विधिरुपक्रम्यताम्' इति, आप्तस्य कार्यवशेन बहिर्गच्छत प्रति 'दूर मा गा' इति, गृहिणो गोपालक प्रति 'सुरभयो गृह प्रवेश्यन्ताम्' इति दिवसेऽतिसन्तप्तस्य बन्धून् प्रति 'सन्तापोऽधुना न भवती'ति, आपणिकाना भृत्याम्प्रति 'विक्रेयवस्तूनि संह्रियन्ताम्' इति, नायकाऽऽगमनप्रस्तावे प्रोषित भर्तृकायास्त कथक प्रति 'नागतोऽद्य प्रेयान्' इति एकस्यैव वक्तुर्बहून् प्रति तत्त त्प्रकरणवशादेवमादिरनवधिर्व्यङ्ग्योऽर्थ प्रकाशते, वाच्यस्तु सर्वान्प्रति अविशिष्ट एव। ननु नैतद्वाच्यवैधर्म्यम् नानार्थसैन्धवादिपदे नानार्थावगतिदर्शनादिति चेन्न। एकवाक्यवर्तिनस्तस्याप्यर्थैक्यनियमात्, यदग्रे वक्ष्यति। 'लक्षणीयार्थस्य नानात्वेऽपि अनेकार्थपदाभिधेयवन्नियतत्वमेवे'ति। तथापि यत्र लवणाद्य- धिकारिण प्रति सकलस्वामिन सैन्धवमानयेति पदप्रयोगस्तत्रानियतत्व दुर्वा रमेवेति चेन्न। तात्पर्याज्ञानात्। न ह्यत्र सर्वैर्वाच्यै सम सर्वव्यङ्ग्याना भेद प्रतिपाद्यते, किन्तु 'गतोऽस्तमर्क' इत्यस्य वाच्यव्यङ्ग्ययो। तथा च तद्वाच्यस्य- नियतत्व, तदर्थपुरस्कारेणैव सर्वेषा व्यङ्ग्यस्यापि प्रतीते। तदस्य नियतत्वानि- यतत्वरूपविरुद्धधर्मससर्गोऽभिहित। एव विलक्षणस्वरूपकालादिभेदोऽपि भेदको द्रष्टव्य। वैधर्म्यसत्त्वेऽपि यद्यभेद स्यात्तदा नीलपीतादेरपि न क्वचिद्भेद स्यात् वैधर्म्यस्याविशेषात्। यदुक्तम्—'अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा, यद्विरुद्ध-

त्रिघत्वाद्रौद्रादौ व्यङ्ग्येऽनुकूलत्व, शृङ्गारादौ तु दुष्टत्वमिति युज्यते विभाग व्यवस्था। एवं पर्यायेषु मध्ये कस्यचिदेव कुत्रचित्काव्येऽनुगुणत्वमित्यपि व्यवस्था न स्यात्, वाच्यार्थस्याविशेषात्। दृश्यते चामौ यथा—'द्वय गत सम्प्रति शोचनीयता समागमप्रार्थनया कपालिन' इत्यत्र न पिनाक्यादिपदमनुकूलम्, किन्तु जुगुप्साव्यञ्जकतया 'कपालि' पदमेव। ननु द्वयमप्येतदयुक्त, व्यङ्ग्यत्वे-नाभिमतस्य वाच्यत्वस्वीकारे एवानुकूलत्वप्रतिकूलत्वयोर्व्यवस्थोपपत्तेरिति चेत् न, अभिधास्वीकारे सङ्केतग्रह विना तदनुपस्थितिप्रसङ्गस्योक्तत्वात्। किञ्च काव्ये शास्त्रे वा वाच्यव्यङ्ग्ययो प्रतिपत्तिहेतुव्यापारभेदनिबन्धनो भेदोऽवश्य स्वीकर्तव्य वैधर्म्यदर्शनात्। वाच्यो ह्यर्थ सर्वरेक एव प्रतीयते इति नियत, व्यङ्ग्यस्तु वक्तृप्रकरणादिवशादनियत। तथाहि 'गतोऽस्तमर्क' इति वाक्ये राज्ञ सेनापतीन्प्रति 'शत्रूणामाहवेनावमर्दनावसर' इति, दूतीनामभिसारिका प्रत्यभिसरणमुपक्रम्यतामिति, सख्या वासकसज्जा प्रति 'प्राप्तप्रायस्ते प्रेयान्' इति कर्मकरस्य सहकर्म कुर्वत प्रति 'कर्मकरणान्निवर्तामहे' इति, भृत्यस्य धार्मिक प्रति 'सान्ध्यो विधिरुपक्रम्यताम्' इति, आप्तस्य कार्यवशेन बहिर्गच्छत प्रति 'दूर मा गा' इति, गृहिणो गोपालक प्रति 'सुरभयो गृह प्रवेश्यन्ताम्' इति दिवसेऽतिसन्तप्तस्य बन्धून् प्रति 'सन्तापोऽधुना न भवती'ति, आपणिकाना भृत्यान्प्रति 'विक्रेयवस्तूनि संह्रियन्ताम्' इति, नायकाऽऽगमनप्रस्तावे प्रोषित भर्तृकावार्ताकथक प्रति 'नागतोऽद्य प्रेयान्' इति एकस्यैव वक्तुर्बहून् प्रति तत्त त्प्रकरणवशादेवमादिरनवधिर्व्यङ्ग्योऽर्थ प्रकाशते, वाच्यस्तु सर्वान्प्रति अविशिष्ट एव। ननु नैतद्वाच्यवैधर्म्यम् नानार्थसैन्धवादिपदे नानार्थावगतिदर्शनादिति चेन्न। एकवाक्यवर्तिनस्तस्याप्यर्थैक्यनियमात्, यदग्रे वक्ष्यति। 'लक्षणीयार्थस्य नाना॰वेऽपि अनेकार्थपदाभिधेयवन्नियत एवे'ति। तथापि यत्र स्नानाद्य-धिकारिणि प्रति सकलस्वामिनि सैन्धवमानयेति पदप्रयोगस्तत्रानियतत्व दुर्वा रमेवेति चेन्न। तात्पर्याज्ञानात्। न ह्यत्र सर्वव्यङ्ग्यानां भेद प्रतिपाद्यते, किन्तु 'गतोऽस्तमर्क' इत्यस्य वाच्यव्यङ्ग्ययो। तथा च तद्वाच्यस्य-नियतत्व, तदर्थपुरस्कारेणैव सर्वेषा व्यङ्ग्यस्यापि प्रतीते। तदय नियतत्वानि-यतत्वरूपनिरुद्धधर्मससर्गोऽभिहित। एव विलक्षणस्वरूपकालादिभेदोऽपि भेदको द्रष्टव्य। वैधर्म्यसत्त्वेऽपि यद्यभेद स्यात्तदा नीलपीतादेरपि न क्वचिद्भेद स्यात् वैधर्म्यस्याविशेषात्। यदुक्तम्—'अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा, यद्विरुद्ध-

धर्माध्यास कारणभेदश्चेति। सुप्रसिद्धश्च तत्र तत्र स्वरूपभेदेऽर्थभेद। तत्र 'नि शेषे'त्यादौ। 'मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमिद वदन्तु। सेव्या नितम्बा किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम्' इत्यादौ। 'कथ मवनिप दर्पो यन्निशातासिधारादलनगलितमूर्ध्ना विद्विषा स्वीकृता श्री। ननु तव निहतारेरप्यसौ किं न नीता त्रिदिवमपगताङ्गैर्वल्लभा कीर्तिरेभि।' इत्यादौ च स्वरूपभेद। प्रथमे हि वाच्यो निषेधरूपो व्यङ्ग्यस्तु विधिरूप, द्वितीय वाच्य सशयरूप प्रतीयमानस्तु शान्ते शृङ्गारिणि वा वक्तरि तदुचितैककोटि निश्चय, तृतीयो वाच्यो निन्दारूप प्रतीयमानस्तु स्तुतिरूप, कालभेदस्तु सर्वत्र पूर्वं हि वाच्य प्रतीयते पश्चात्तु व्यङ्ग्य इति। वाच्यस्य तु शब्दमात्रमाश्रय, प्रतीयमानस्य तु पदवाक्यैकदेशीभूतकाक्वादितदर्थवर्णसङ्घटना इत्याश्रयभेद। वाच्यस्य व्याकरणकोशादिमात्रेणावगम, प्रतीयमानस्य तु प्रतिभानैर्मल्येना प्यधिकेनेति ज्ञापकभेद। वाच्येन व्युत्पन्नमात्रस्य प्रतीतिमात्रम् अन्येन तु विदग्धपदवाच्यस्य सहृदयस्य चमत्कृतिरिति कार्यभेद 'गतोऽस्तमर्क' इत्यादौ दर्शितनयेन वाच्य एक प्रतीयमानस्तु नानेति सख्याभेद, 'कस्स वा ण होई' इति प्राकृत पदम्। तस्य छाया—कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियाया सव्रण मधरम्। सभ्रमरपद्माघ्रायिणि वारितवामे सहस्वेदानीम्, इत्यादौ वाच्यार्थस्य सम्बोध्या सखी विषय, तत्र हि वाच्योऽर्थ श्रोतुर्य्यवतिष्ठते। प्रतीयमानस्य तु 'भ्रमरेणास्या अधर खण्डित, न तूपपतिनेति तत्कान्त, 'ममैव वैदग्ध्यम्' इत्यस्य प्रतिवेशिनी, इदानीं मया समाहित पुनरेव त्वया न विधेयम्' इत्यस्यो पपति एव सपत्न्यादिविषयोऽपीति विषयस्य भेद। एव स्वरूपादिभेदादव श्यमङ्गीकर्तव्यो वाच्यव्यङ्ग्ययोर्भेद। किञ्च वाचकव्यञ्जकयोरपि वैधर्म्याद् भेदो वक्तव्य। यतो वाचकस्य सङ्केतितार्थापेक्षा, सङ्केतिते ह्येवार्थेऽभिधा प्रवर्तते, न चैव व्यञ्जक अन्यत्रापि व्यञ्जनया प्रत्ययजननात्। यच्चोक्त—'तात्पर्यविषये शब्द प्रमाणम्' इति तदितोऽप्यनुपपन्नम्। यतो व्यङ्ग्यस्य वाच्यताभ्युपगमेऽपि नानार्थन्यायेन तात्पर्यादेव नियमो वाच्य, अन्यथा सर्वत्र सर्वव्यङ्ग्य प्रतीतिप्रसङ्गात्। तथा च यत्र 'वाणीरकुडङ्ग०' इत्यादौ व्यङ्ग्यप्रतीतावपि वाच्य एव चारुत्वविश्रामस्तत्र तात्पर्याविषयो व्यङ्ग्योऽर्थ कथ प्रतीयते। 'यत्पर शब्द' इत्युक्तमते तु सुतराम्। एतेन तात्पर्यमेव व्यङ्ग्यप्रतीतौ व्यापार इत्यपि निरस्तम्। तस्मात्तात्पर्यमभिधा वा न प्रतीयमानेऽर्थे व्यापार।

प्रश्न १२—ननु लक्षणानुगतत्वं व्यञ्जनाया कुतो न ?

उ० १२—नन्वस्तु लक्षणा । नहि वाच्यवक्तृत्वोऽपि व्यवस्थितो विशेषव्यपदेशाहेतुर्वा । यतो रामोऽस्मि सर्वं 'सहे' इत्यत्र 'राम' पदेन सर्वदु खभाजनत्व, 'प्रत्याख्यानरुचे' कृत समुचित क्रूरेण ते रक्षसा । सोढ तच्च तथा त्वया कुलजनो धत्ते यथोच्चै शिर । व्यर्थं सम्प्रति बिभ्रता धनुरिद लब्धापदा साक्षिणा । रामेण प्रियजीवितेन [redacted] कृतप्रेम्ण प्रियेनोचितम् ।' इत्यत्र कातर त्वम्, 'रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणै'रित्यत्र खरदूषणादिहन्तृत्व च लक्ष्यते । अतो रामपदलक्ष्यमेवानेको भवति, अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यादिविशेषव्यपदेशहेतुश्च भवति । एव मन्यत्रापि स्यात् । तदुक्त—'भाक्तमार्गस्तदन्य' इति लक्षणीयविशेषावगमश्च प्रकरणादिसापेक्षेण शक्यार्थेन स्यादतो नातिरिक्त प्रतीयमानो नाम । मैवम् । लक्षणीयस्य मानात्वेऽपि हि नानार्थसैन्धवादिपदाभिधेयस्येव नियतत्वमेव । न खल्वनियतसम्बन्धो मुख्येनार्थेन लक्षयितु शक्यते । प्रतीयमानस्तु प्रकरणादिवशेन नियतसम्बन्धोऽनियतसम्बन्ध सम्बद्धसम्बन्धश्चेति तत्स्वरूप सोदाहरणमग्रे प्रदर्शयिष्यते । किञ्च 'अत्ता एत्थ णिमज्जइ' यादौ विवक्षितान्यपरवाच्ये कथ लक्षणा, मुख्यार्थबाधाभावात् । ननु तत्रापि तात्पर्याधीनान्वयानुपपत्तिसद्भाविणो यास्तीत्यप्रेक्षेति चेन्न । लक्षणाया प्रयोजननियमात् । तस्य च व्यापारान्तरागम्यत्वात् तदर्थं व्यञ्जनास्वीकारे किं प्रथमयापि लक्षणया । अथ निरूढलक्षणा यामिवान्यत्राप्यस्तु प्रयोजनानपेक्षेति चेन्न । यथाहि सङ्केतग्रहसापेक्षाऽभिधा, तथा मुख्यार्थबाधतद्योगरूढिप्रयोजनान्यतरस्य मुख्यार्थसङ्केतग्रहस्य च सापेक्षा लक्षणा । तत्कथ रूढे प्रयोजनस्य चाऽभावे भवेत् । यत' सङ्केतग्रहणापेक्षा सा । अत एवा'भिधापुच्छभूता से'त्याहु । किञ्च न लक्षणाव्यञ्जनयोरभेद , लक्षणामुपजीव्य तद्दर्शनात् । नापि लक्षणानुगतमेव ध्वननमिति ध्वनेस्तल्लक्षणमिति वाच्यम् । अभिधोपजीवनेनापि भावात् । न च लक्षणाभिधोभयानुसार्येव । वर्णमात्रानुसारेणापि हि दृश्यते रसादिव्यञ्जना । न च वर्णमात्रे लक्षणाऽभिधा वा । सापि शब्दानुसार्येव । विकसन्नर्तकीनेत्रत्रिभागावलोकनादिगतत्वेनापि प्रसिद्धे । तस्मादभिधा-लक्षणा तात्पर्यविलक्षणस्तुरीयो ध्वननव्यञ्जनद्योतनप्रकाशनादिपर्यायो व्यापारोऽनपह्नवनीय एव । तत्र 'अत्ता एत्थ णिमज्जइ' त्यादौ व्यङ्ग्यार्थो नियत सम्बन्ध , 'कस्स ण वा होइ रोसो' इत्यादावनियतसम्बन्ध , नियतसम्बद्धत्व च व्यङ्ग्यप्रतीत्योरेकविषयता सकलम्, प्रथमे तस्य भाव पथिकरूपैकविषयकत्वात् ।

द्वितीये तु तदभाव, सखीतत्कान्तादिविषयभेदादिति केचित्। तन्न सम्यगाभाति, लक्ष्यस्य नियतसम्बद्धत्वमेव, व्यङ्ग्यस्य तु तथात्वान्यथात्वे चेति पूर्वप्रतिपादितस्य हीदमुदाहरणमिति लक्ष्यसाधारण नियतसम्बद्धत्व वाच्यम्। न चोक्त तथा भवति। अन्ये तु प्रथमे सर्वेषामेव सत्यताप्रतीति, द्वितीये तु कान्तस्यैव सत्यतया, अन्येषा त्वसत्यतयेति नियताऽनियतसम्बद्धत्वमित्याहु। तदपि न मनोरमम्। यत एव वाच्यप्रतीतेरेव सत्यताऽसत्यताप्रतीतिविषयत्वरूप वैलक्षण्यमुच्यते, न तु व्यङ्ग्यप्रतीते। तस्मान्नियतसम्बन्धत्व तेन वाक्येन सह ज्ञाप्यत्वरूपसम्बन्धनियम (शय्याप्रवेशरूपे व्यङ्ग्ये तदप्रवचारूपस्य वाच्यस्य विरोधसम्बन्धोऽस्ति। स च प्रसिद्धतया क्लृप्त इति नियतत्वम्। द्वितीये नायकेनावगते भ्रमरेणास्या आस्य दष्ट नतूपपतिना इति व्यङ्ग्यार्थे। विनीतस्वरूपवाच्यार्थस्य न कोऽपि प्रसिद्धसम्बन्धोऽस्ति इति कोऽपि कल्पनीय इत्यनियतत्वम्।) इति युक्तमुत्पश्याम। सम्बद्धसम्बन्धो यथा 'विवरीअरए०' इति प्राकृत पद्यम्। अस्य छाया—'विपरीतरते लक्ष्मीर्ब्रह्माण दृष्ट्वा नाभिकमलस्थम्। हरेर्दक्षिणनयन रसाकुला झटिति स्थगयति' इति। अत्र हरिपदेन दक्षिणनयनस्य सूर्यात्मकत्वं तन्निमीलनेन सूर्यास्तमयस्तेन पद्मसङ्कोचस्ततो ब्रह्मणस्स्थगन तस्मिन्सति गोपनीयाङ्गस्यादर्शनेनानियन्त्रण निधुवनविलम्बितमिति सम्बद्धसम्बन्धानि द्योत्यन्ते।

प्रश्न १३—व्यञ्जनाविषये वेदान्तिवैयाकरणानां मतमनूद्य खण्डयत।

उ० १३—वेदान्तिनस्तु–क्रियाकारकादिपुरस्कारेण शब्दाना प्रवृत्तिर्धर्मधर्मिभावमपुरस्कृत्य न सम्भवति, धर्मधर्मिभावश्च प्रपञ्चगोचरो वा स्याद्, ब्रह्मगोचरो वा। नाद्य प्रपञ्चस्य बाध्यत्वात् (ससारस्य मिथ्यात्वेन धर्मधर्मिभावश्च न सम्भवति), नान्त्य ब्रह्मणो धर्मशून्यत्वात्। अत पदपदार्थविभागमन्तरेणैव 'सत्यं विज्ञान'मित्यादि वाक्यमखण्डमेवाऽखण्डब्रह्मबोधकमित्यातिष्ठन्ते। अतस्तन्मतानुसारेण प्रतीयमानेऽपि वाच्यस्य शक्तिरेव (पदपदार्थविभागमन्तरेणैव सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्मे'त्यादि महावाक्यमखण्डमेव अखण्ड ब्रह्म बोधयति इति वेदान्तमतानुसारेण व्यङ्ग्येऽपि वाक्यगम्ये वाक्यस्य वाच्यस्य वा शक्तिरेवेति पूर्वपक्ष) इत्यपि न वाच्यम्। यतो व्यवहारमार्गे तैरपि पदपदार्थकल्पनाऽवश्यमङ्गीकर्तव्या। व्यवहारे तेषा भट्टनयस्वीकारात्। यदि च पदार्थकल्पना अविद्यादशायामपि नाङ्गीक्रियते, कुतस्तर्हि व्युत्पन्नाऽव्युत्पन्नविभागव्यवहार ? वाक्यार्थ एव

वाक्यस्य सङ्केतग्रहमाश्रित्येति चेन्न । वाक्यार्थस्यापूर्वत्वेनाऽनन्त्यात्तत्र सङ्केतग्रहस्याशक्यत्वात् । अविद्यामार्गतिरस्कारे च कथमखण्डयोरपि वाच्यवाचकभावः । पारमार्थिकभेदाभावात् । तस्मात् तन्मतेऽपि विध्यादिर्व्यङ्ग्य एव ।

प्र० १४—व्यञ्जनाविषये महिमभट्टमतमनूद्य खण्डयत ।

उ० १४—महिमभट्टास्तु—न तावदसम्बद्ध एव वाक्यात्प्रतीयते, सर्वस्मात्सर्वोपलब्धिप्रसङ्गात् । सम्बन्धाच्च व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावो भवन्नियताद्भवतीति प्रतिबद्धरूपादेव भवतीत्यास्थेयम् । सम्बद्धोऽप्यर्थो न स्वाधिकरणत्वेनाऽज्ञातो व्यङ्ग्यं प्रतिपादयति, सर्वत्र तत्प्रतीतिप्रसङ्गात् एवञ्च व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावोऽनुमेयानुमापकभाव एव पर्यवसन्नः । यतो व्याप्तत्वेन सकलपक्षनिष्ठत्वेन च सपक्षसत्त्वविपक्षासत्त्वपक्षसत्त्वलक्षणरूपत्रयवतो लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानमेवानुमानम् । तदेतदुक्तम्—'अनुमानं यत्तद्रूप' इति (अनुमित्यात्मको व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावः पर्यवस्यति) तेनानुमानेन रूप्यते न व्यतिरिक्तया व्यवस्थेति तस्यार्थः । एवमनुमानादेव व्यङ्ग्यप्रतीतिः । तथाहि—'भम धम्मिअ०' इति प्राकृतं पद्यम् । छाया तु 'भ्रम धार्मिक विश्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन । गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन' इति । सङ्केतनिकेतनीभूतं गोदावरीनिकुञ्जं पुष्पावचयादिहेतोः कदाचित्सञ्चरतो धार्मिकस्य निवारणायाऽविनयवत्या इयमुक्तिः । तदत्र निकुञ्जवासिसिंहदृप्ततया श्वनिवृत्त्या गृहे भ्रमणविधिर्बाध्य स एव निकुञ्जभ्रमणायोग्यतानुमित्यै प्रभवति (अत्र गृहे श्वनिवृत्त्या भ्रमणं विहितं गोदावरीतीरे सिंहोपलब्धेरभ्रमणमनुमापयति) यद्भीरुभ्रमणं तत्तद्भयकारणनिवृत्त्युपलब्धिपूर्वकम्, निकुञ्जे च सिंहोपलब्धिरितिव्यापकविरुद्धोपलब्धौ पर्यवसानात् । अत्र भीरुभ्रमणस्य व्यापिका भयकारणाभावोपलब्धिः, तद्विरुद्धं भयकारणम् तदुपलब्धिः (अनेन व्यतिरेकव्याप्तिर्दर्शिता भवति, तथा च 'गोदावरीतीरं भीरुभ्रमणायोग्यं सिंहवत्त्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा गृहम्') अनुमानं चैवं 'गोदावरीनिकुञ्जं भीरुभ्रमणायोग्यं सिंहवत्त्वात्' । अत्रोच्यते—भीरोः वीरस्वभावस्य भ्रमणायोग्यत्वमत्र साध्यम्, वीरस्वभावस्य वा, विशेषौदासीन्येन तत्सामान्यस्यैव वा । आद्ये व्यभिचारः, तादृशस्यापि प्रभोर्गुरोर्वा निदेशेन, प्रियानुरागेण, निधिलाभादिशङ्कया वा तत्र भ्रमणदर्शनात् । अत एव नान्त्योऽपि । मध्यमे तु विरोधः, स्पर्शादिशङ्कयाऽपौरुषेयतया वा यतो बिभ्यतोऽपि मृगयादिकुतूहलेन सिंहवद्देशे वीरस्य भ्रमणदर्शनात् । किञ्चात्र पक्षे सिंहसद्भावो न मानान्त-

रेणावधारितः किन्तु पुंश्चलीवाक्यादवगमः । न च तद्वचनं निश्चायकम्, अर्थेन समं सम्बन्धानियमादित्यनिश्चयरूपाऽसिद्धिः । एवं 'निःशेषच्युतचन्दने'त्यादौ चन्दनच्यवनादीनि उपभोगस्याङ्गतयोपात्तानि । न च तानि तद्व्याप्यानि कारणान्तरतोऽपि सम्भवात् । अत एवात्र स्नानकार्यत्वेनोपात्तानि । अतोऽनैकान्तिकत्वात् कथमनुमितिः स्यात् । ननु व्यक्तिरपि कथं ? तैरिति चेत् अधमपदसहायैरेभिरिति ब्रूमः । अस्माकमपि तत्साहित्येनानैकान्तिकत्वाव्यतिरेक इति चेत्, भवेदेवं यद्यधमत्वं प्रमाणावधारितं भवेत्, न त्वेवमस्ति । व्यक्तिरपि कथं तादृशात्पेदिति चेत्, धिङ् मूर्ख, व्यञ्जनायां न व्याप्तेर्नापि पक्षधर्मताया निर्धारणमङ्गं किन्तु सम्भावितादप्येवंविधादेवंविधोऽर्थः प्रतीयत इति मूर्खो भव ।

इति पञ्चमोल्लासः ।



अथ षष्ठ उल्लासः

प्र० १—ग्रन्थसन्दर्भपुर सरं व्याख्यायन्तां निम्नोद्धृतपद्यानि—

रूपकादिरलङ्कारस्तस्यान्यैर्बहुधोदित ।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम् ॥
रूपकादिमलङ्कारं बाह्यमाचक्षते परे ।
सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलङ्कृतिम् ॥
तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी ।
शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयं तु नः ।

उ० १—यद्यपि शब्दचित्रार्थचित्ररूपभेदद्वय प्रथमोल्लासे एव दर्शितम्, तत्प्रभेदाश्चालङ्कारप्रभेदप्रदर्शनेनैव दर्शिता भविष्यन्ति' इति न कश्चिदस्ति तत्र प्रदर्शनीयम्, तथापि प्रदर्शितभेदद्वयमेव तावदनुपपन्न शब्दार्थालङ्कारयोरन्योन्यनैरपेक्ष्येणानुपलम्भात् । तत्राह –शब्दार्थालङ्कारयोरेकैकमात्रावस्थानपुरस्कारेण नाय विभाग किन्तु प्राधान्यपुरस्कारेण । तथा च प्रथमोल्लासे 'स्वच्छन्दोच्छलित' इति पद्ये नद्यन्तराधिक्यरूपेण व्यतिरेकालङ्कारेणार्थस्य चित्रत्वम् 'विनिर्गतमि'त्यादौ च मानमारममन्दिराद् इति मकारस्यासकृदावृत्त्या वृत्त्यनुप्रासेन शब्दस्य चित्रत्व मस्ति तथापि तत्र काव्ये चित्रार्थशब्दयो चित्रौ च तावर्थशब्दौ च तयो गुणत्वेन प्राधान्येन चावस्थानम्—तदुक्त'न तु शब्दचित्रेऽर्थस्याचित्रत्वम् अर्थचित्रे च शब्दस्य' इति । अत पूर्वोक्तोदाहरणद्वये 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ती'ति न्यायेनात्र शब्दचित्रमर्थचित्र क्रमेणावगन्तव्यम् । तत्र प्रामाणिकाना वैमत्य प्रदर्शयति—रूपकादिरित्यादिना । शब्दालङ्काराणामर्थालङ्काराणा च चमत्कारप्रयोजकत्वे प्रामाणिकसम्मतिमाह—तस्य काव्यस्य रूपकादि रूपकोपमादिरेव (अर्थालङ्कार एव) अलङ्कार अन्यै कैश्चिदालङ्कारिकै बहुधा बहुप्रकार उदित उक्त । अर्थस्य विभावादिरूपस्य रसव्यञ्जकत्वेनार्थनिष्ठो रूपकादिरेवालङ्कार मुख्यस्य रसादेरुत्कर्षकत्वात् । शब्दालङ्काराणा तु विभावाद्युपनयनमात्रप्रयोजकशब्दधर्मतया न मुख्यालङ्कारत्वम्, तत्र व्यतिरेकदृष्टान्तमाह—'न कान्तम्' इत्यादि । यथा वनिताया आनन मुख कान्तमपि सलावण्यमपि निर्भूष निर-

लङ्कारं सत् न विभाति नाह्लादाय पर्याप्तं तथा शब्दार्थशरीरं (काव्यस्य) सगुणमपि निरलङ्कारं न विभाति। विभावादित्वेन प्राधानामर्थानामेव रसत्वमिति तेषां परिष्करणमुचितम्। अर्थं प्रत्याय्योपक्षीणानां शब्दानामलङ्कारस्यानादरणीयत्वात्। द्वितीये पक्षे 'रूपकादिभि'रित्यादिना सार्धपद्येन 'शब्दालङ्कार एवादरणीयो न त्वर्थालङ्कारः' इति केषाञ्चिदालङ्कारिकाणां मतमाह। परेऽन्ये (केचिदालङ्कारिकाः) रूपकादिमर्थालङ्कारं बाह्यं काव्यार्थप्रतीत्युत्तरवर्तिनीम् आचक्षते कथयन्ति। शब्दश्रवणानन्तरं शब्दालङ्कारेण चित्ते आकृष्टे अर्थप्रतीत्यनन्तरं हि रूपकाद्यनुसन्धानमिति तेषां बाह्यत्वम्। यतस्ते सुपां तिङां सुबन्तानां तिङन्तानां च पदानां व्युत्पत्तिं विशेषेणानुप्रासादिरूपेणोत्पत्तिं (विशेषेण उत्पत्तिः व्युत्पत्तिः) संमिश्रेत्यां वाचामलङ्कृतिं शब्दालङ्कारं वाञ्छन्ति अत्यन्तोपादेयत्वेनाभिलषन्तीत्यर्थः। तस्या एवालङ्कृतित्वे हेतुमाह—तदेतदाहुरिति। सौशब्द्यं शोभनशब्दस्य काव्यस्य शोभनत्वं स्वत एव शब्दालङ्काराणां चमत्कारित्वमेव। अर्थव्युत्पत्तिः अर्थालङ्कारः नेदृशी न शब्दवत् स्वतश्चमत्कारिका अपि तु विभावाद्युत्कर्षमुखेनैवेत्यर्थः। शब्दैरभिव्यज्यमानानामास्वादानां विभावादिभिरर्थैरुपचायनम् ते च (शब्दाश्च) माधुर्यादिव्यञ्जकवर्णघटितानुप्रासादिमत्तया रचिता एव तद्व्यञ्जने प्रभवन्ति तेन शब्दालङ्काराणामावश्यकता पश्चाद्भवानामर्थालङ्काराणामकिञ्चित्करता तैर्विनापि शब्दालङ्कारैरास्वादानामभिव्यक्तेः। तदेवाह बाह्यमिति। 'आस्वादोत्पत्तिदशायां तदनुपलम्भात्'। इति। अधुना 'शब्दाभिधेये'त्यादिना स्वसिद्धान्तमाह ग्रन्थकृत्। अभिधेयः अर्थः। यद्वा अभिधेयः प्रतिपाद्यः तेन लक्ष्यव्यङ्ग्ययोरपि सङ्ग्रहः। 'तु' शब्दः पुनरर्थे। तथा च नः अस्माकं शब्दाभिधेयालङ्कारभेदात् शब्दार्थालङ्कारयोर्भेदात् द्वयं शब्दार्थालङ्कारयुगलम् इष्टम् अभिमतमित्यर्थः। इदमत्राकूतम्। नहि शब्दे स्वरूपेणालङ्कारः, निरर्थकेऽपि तदापत्तेः। नाप्यर्थे सर्वदार्थसत्त्वेन तदापत्तेः। किन्तु शब्दबोधितेऽर्थेऽर्थबोधके शब्दे च चित्रता। अत एव द्वे काव्ये तेन द्वयोरप्यास्वादोपकारकत्वस्य सहृदयैकवेद्यत्वात् कविसंरम्भगोचरत्वाच्च द्वावप्यलङ्कारौ। इति।

इति षष्ठोल्लासः।

अथ सप्तमोल्लासः

प्रश्न १–दोषसामान्यस्य लक्षणं प्रतिपाद्य सोदाहरणान् सोपपत्तिकान् पदगतान् दोषान् प्रतिपादयत ।

उत्तर १–'उद्देश्यप्रतीतिविघातको दोष' इति दोषसामान्यस्य लक्षणम् । षोडश पददोषा सन्ति । श्रुतिकटु १ श्रुतौ कटु यद् भवति तत् श्रुतिकटूच्यते । यथा–'अनङ्गमङ्गले'त्यादिपद्ये 'कार्तार्थ्यम्' इति पद श्रवणे कटु विद्यते। च्युतसस्कृति २ व्याकरणलक्षणहीन यद् भवति तत् पद च्युतसस्कृतीत्युच्यते । यथा—'एतन्मन्दविपक्वे'त्यादिपद्ये 'अनुनाथते' इति पद 'आशिषि नाथ ' इति वार्तिकविरुद्धत्वाच्च्युतसस्कृति । अप्रयुक्तम् ३ तथा पठितमपि कविभिर्नादृतम् । यथा—'यथाय दारुणाचार' इत्यादिपद्ये 'दैवत शब्द पुसि पठितोऽपि यथा 'दैवतानि पुसि वा' इत्यत्र पुसि कविभिर्न प्रयुज्यते । असमर्थम् ४ शक्तिरहित, यस्मिन्नर्थे पठितस्त प्रतिपादयितुमशक्तम् । यथा—'तीर्थान्तरेषु स्नानेन' इत्यत्र 'हन्ति'पदम् । हन्धातुर्गमनार्थे पठितोऽपि तदर्थप्रतिपादनेऽशक्त । निहतार्थम् ५ उभयार्थमप्रसिद्धेऽर्थे प्रयुक्तम् । 'यावकरसार्द्र' इत्यत्र 'शोणित'शब्द उज्ज्वलीकृतरूपेऽर्थे निहतार्थ । अनुचितार्थम् ६ 'तपस्विभिर्या' इत्यत्र पशुपद कातरताभिव्यञ्जक त्वादनुचितार्थम् । निरर्थकम् ७ पादपूरणमात्रप्रयोजनकम् । यथा—'उत्फुल्लकमलकेसर' इत्यत्र 'हि' पदम् । अवाचकम् ८ यथा—'अवन्ध्यकोपस्ये'त्यादिपद्ये 'जन्तु'पदमदातर्यर्थ प्रयुक्त परन्तु तदर्थे जन्तुपदस्य शक्तिरेव नास्ति । अश्लीलम् ९ श्रीरस्यास्तीति श्रील सिध्मादित्वान्मत्वर्थीयो लच्प्रत्यय । रलयोरभेदात् श्लील, न श्लीलम् अश्लीलम् । अथवा श्रिय लातीति श्रीलम् । स त्रिविधो व्रीडाजुगुप्साऽमङ्गलव्यञ्जकत्वात् । 'साधन सुमहद् यस्य', 'लीलातामरसाहत ' 'मृदुपवनविभिन्न ' इत्यादीनि क्रमेणोदाहरणानि बोध्यानि । उक्तेषु त्रिषूदाहरणेषु साधनवायुविनाशशब्दा व्रीडादिव्यञ्जका । सदिग्धम् १०-यथा—'आलिङ्गितस्तत्र भवान्' इत्यत्र वन्द्यामिति पदे वन्दीभूतायामुत वन्दनीयामिति सशय । अप्रतीतम् ११-यत्केवले शास्त्रे प्रसिद्दम् । यथा—सम्यग्ज्ञानेत्यादिपद्ये आशयशब्दो वासनार्थो योगशास्त्रादावेव प्रयुक्त । ग्राम्यम् १२ लोके एव प्रसिद्धम् । यथा—राकाविभावरीत्यादिपद्ये कटि-

पदम्। नेयार्थम् १३ रूढिं प्रयोजनं विना शक्यसम्बन्धमात्रेणाशक्यार्थोपस्थापनम्। यथा—'शरत्कालसमुल्लासि' इत्यत्र चपेटापातनेन निर्जितत्वं लक्ष्यते। क्लिष्टम् १४ यतोऽर्थप्रतीतिर्व्यवहिता। यथा—अत्रिलोचनसमूतेरयादिपद्येऽत्रिलोचनसमूतस्य चन्द्रस्य ज्योतिरुद्गमनेन भासिभि कुमुदैरित्यर्थो व्यवहितत्वात् क्लिष्ट। अविमृष्टविधेयांशम् १५ अविमृष्टं प्राधान्येनानिर्दिष्टो विधेयांशो यत्र तत्। यथा–मूर्धामुद्वृत्तकृत्तेत्यादिपद्ये मिथ्यामहिमत्वं नानुवाद्यमपि तु विधेयम्। विरुद्धमतिकृत् १६ विरुद्धा चासौ मतिश्च, तां करोतीति विरुद्धमतिकृत्। यथा—न त्रस्त यदि नाम भूतकरुणे'त्यादिपद्ये भवानीपतिशब्दो भवान्या पत्यन्तरे प्रतीतिं करोति। भवस्य स्त्री भवानी तस्या पतिरिति रीत्या भवानीपतिशब्द यज्ञदत्तपन्त्या पतिरितिवत् पत्यन्तरप्रतीतिं करोति। एषु प्रारम्भिकाश्चयोदश दोषा केवलपदगता समासगताश्च अन्ये क्लिष्टादयस्त्रयस्तु समासगता एव।

प्र० २—पदांशदोषान् सोदाहरणान् प्रतिपादयत।

उ० २—श्रुतिकटु—'तद् गच्छ सिद्ध्यै' अत्र द्धयै, ध्यै इति कटु। 'यथाप्सरोविभ्रम इत्यादिपद्ये' मत्ताशब्द क्षीवार्थे निहतार्थं। आदावञ्जनपुञ्जेत्यादिपद्ये दशामिति बहुवचनं निरर्थकम्। चापाचार्यस्त्रिपुरविजयीत्यादिपद्ये विजेय इति कृत्य प्रत्यय क्तप्रत्ययेऽवाचक। 'अतिपेलवमतिपरिमितवर्णम्' 'य पूयते' 'विनयप्रणयैककेतनम्' एषु पेलवपूयप्रेतशब्दा क्रमेण व्रीडादिव्यञ्जका। 'कस्मिन् कर्मणि' इत्यादिपद्ये किं पूर्वं साधु उत साधुषु चरतीति सन्देह। किमुच्यतेऽस्येत्यादिपद्ये वच शब्देन गी शब्दो लक्ष्यते।

प्र० ३—साधारणान् वाक्यगतान् दोषान् सोदाहरणान् प्रतिपाद्यासाधारणान् वाक्यगतान् सोदाहरणान् दोषान् प्रतिपादयत।

उ० ३—च्युतसंस्कारमसमर्थं निरर्थकञ्चेति त्रीन् दोषान् विहाय त्रयोदश दोषा पूर्वमुक्ता वाक्येऽपि भवन्ति। 'सोऽध्यैष्ट', 'स रातु' 'सायकसहायबाहो' 'कुविन्दस्त्वम्' 'प्राभ्रभ्राड्' 'भूपतेरुपसर्पन्ती' 'तेऽन्यैर्वान्तम्' 'पितृवसतिमहं व्रजामि' 'सुरालयोल्लासपर' 'तस्याधिमात्रोपायस्य' 'ताम्बूलभृतगल्लोऽयम्' 'वस्त्रवैदूर्यचरणै' 'धम्मिल्लस्य न कस्य' 'अपाङ्गसंसर्गितरङ्गितम्' 'श्रितक्षमा रक्तभुव' इत्यादिषु ... अप्रयुक्त-निहतार्थ-अनुचितार्थ-अवाचक व्रीडा-जुगुप्सा अमङ्गलाश्लील-

सन्दिग्ध–अप्रतीत–ग्राम्य–नेयार्थ–क्लिष्ट–अविमृष्टविधेयांश–विरुद्धमतिकृद्दोषा क्रमेण बोध्या ।

प्रतिकूलवर्णम् १ रसप्रतिकूला यत्र वाक्ये वर्णा भवेयुस्तत्, यथा–'अकुण्ठोत्कण्ठया' इत्यत्र । उपहतलुप्तविसर्गम् २ ३ उपहत उत्व प्राप्तो लुप्तो वा विसर्गो यत्र तत्, यथा 'धीरो विनीत' इत्यादौ । विसन्धि ४ विश्लेष, सन्धौ अश्लील व, सन्धौ कष्टता वा 'तत उदित उदारहारहारि' 'वेगादुड्डीय गगने' 'उर्व्यसावत्र तर्वाली' इत्यादीनि क्रमेण विसन्ध्युदाहरणानि हतवृत्तम् ५ हत वृत्त यत्र तत्–लक्षणानुसरणेऽप्यश्रव्यम्, न प्राप्तो गुरुभावोऽन्ते लघुना यत्र तत्, रसाननुगुण चेति त्रिविध हतवृत्तम् । यथा—'अमृतममृतम्' इत्यादिपद्ये हरिणीछन्द तस्मिंश्च प्रतिपाद पञ्चाक्षरे यतिरुचिता । परन्त्वत्र चतुर्थपादे 'हा' इति पञ्चाक्षरे परपदानुसन्धानापेक्षत्वेन यतिभङ्गाद्दश्रव्यत्वम् । 'विकसितसहकारतारहारि' अत्र हारिशब्दोऽप्राप्तगुरुभावान्तलघुरस्ति । 'हा नृप हा बुध' इत्यादौ हास्यानुकूल दोधकवृत्त विपरीतम् । न्यूनपदम् ६ 'तथाभूता दृष्ट्वा' इत्यत्रास्माभि 'खिन्ने' इत्यस्मात् पूर्वमित्थमिति च न्यूनम् । अधिकपदम् ७ यथा—'स्फटिकाकृतिनिर्मल' इत्यत्राकृतिशब्द । कथितपदम् ८ 'अधिकरतलतल्पम्' इत्यादौ लीलाशब्द । पतत्प्रकर्षम् ९ पतन् ह्रसन् प्रकर्ष उत्कर्षो यत्र वाक्ये तत् । अलङ्कारकृतस्य बन्धकृतस्य वा प्रकर्षस्य यत्रोत्तरोत्तर पात । 'क क कुत्र न' इत्यादिपद्ये यथा । समाप्तपुनरात्तम् १० समाप्तम च पुनरात्तम् । यथा—'क्रेङ्कार स्मरकार्मुकस्य, इत्यत्र तमोनु च' इति समाप्तमेव वाक्य नवेत्यादिविशेषणेन पुनरुपादीयतेऽत समाप्तपुनरात्तम् । द्वितीयार्धगतैकवाचकशेषप्रथमार्धम् ११ द्वितीयार्धगतमेक वाचक शेषम् अवशिष्ट यस्य तादृश प्रथमार्ध यत्र वाक्ये । यथा—'मसृणचरणपातम्' 'भू सदर्भा' तत् तस्मात् मसृणचरणपात गम्यताम्' इति वाक्य द्वितीयार्धगतेन तदित्यनेन पूर्यते । अभवन्मतयोगम् १२ अभवन् मत (इष्ट) योग (सम्बन्ध) यत्र । यथा—'त्वमेवसौन्दर्या' इत्यादौ यदित्यत्र तदिति तदानीमित्यत्र च यदिति वचन नास्ति । अनभिहितवाच्यम् १३ अवश्यवक्तव्यमनुक्त यत्र । यथा—'त्वयि निबद्धरतेरि'त्यादौ अपराधस्य लवमपीति वाच्यम् । अस्थानस्थपदम् १४ अस्थानेऽयोग्यस्थाने तिष्ठतीति अस्थानस्थम् । अस्थानस्थ पद यत्र । यथा—'प्रियेण सग्रथ्य' इत्यादिपद्ये 'काचिन्न विजहौ' इति वाच्यम् ।

अस्थानस्थसमासम् १५ यथा—'अद्यापि स्तनशैलदुर्गविषमे' इत्यादिपद्ये क्रुद्धस्य चन्द्रमस उक्तौ समासो न कृतः कवेरुक्तौ तु कृतः। संकीर्णम् १६ यत्र वाक्यान्तरस्य पदानि वाक्यान्तरमनुप्रविशन्ति। यथा—'किमिति न पश्यसि कोपम्' इत्यादौ पादगतं बहुगुणं हृदयनाथं किमिति न पश्यसि इमं कण्ठे गृहाणेत्यादिर्बोध्यम्। गर्भितम् १७ यत्र वाक्यस्य मध्ये वाक्यान्तरमनुप्रविशति। यथा—'लग्नं रागावृताङ्ग्या' इत्यादौ 'विदितं तेऽस्तु' एतत् प्रयोजनं विनैव गर्भितं कृतम्। प्रसिद्धिहतम् १८ प्रसिद्धिमतिक्रान्तम्। 'मञ्जीरादिषु रणितप्रायं पक्षिषु च कूजितप्रभृति। स्तनितमणितादि सुरते मेघादिषु च गर्जितप्रमुखम्'॥ इयं प्रसिद्धिर्बोध्या। यथा—महाप्रलयमारुतेत्यादौ सिंहनादे रव'। भग्नप्रक्रमता १९ भग्नः प्रक्रम' प्रस्तावो यत्र तस्य भावः। यथा—'गाहन्तां महिषा' इत्यादिपद्ये गाहन्तामिति कर्तृतिङः प्रक्रमात् क्रियन्तामित्यत्र तद्भङ्गः। अक्रमः २० अविद्यमानः क्रमो यत्र यथा—लग्नं रागावृताङ्ग्या' इत्यादौ 'इति ध्वनियोगात्', इति वाच्यम्। अमतपरार्थम् २१ अमतः प्रकृतविरुद्धः परार्थो यत्र। यथा—'राममन्मथशरेण, इत्यादिपद्ये ताटकामरणप्रकरणे बीभत्सरसे विरुद्धस्य शृङ्गारस्य व्यञ्जकोऽपरोऽर्थः।

प्र० ४—अर्थदोषान् प्रतिपाद्योदाहरणेषु सङ्गमयत।

उ० ४—त्रयोविंशतिरर्थदोषाः सन्ति। अपुष्टः १ मुख्यार्थानुपकारी यथा—अतिविततगगनसरणीत्यादिपद्ये अतिविततत्वादयो मुख्यार्थं नोपकुर्वन्ति। कष्टः २ दुरूहः। यथा—सदा मध्ये यासामित्यादौ यासां कविरुचीनां मध्ये सुकुमारविचित्रमध्यमात्मकत्रिमार्गा भारती चमत्कारं वहति ताः गम्भीरकाव्यपरिचिताः कथमितरकाव्यवत् प्रसन्ना भवन्त्वित्यादिरर्थो दुरूहः। व्याहतः ३ पूर्वं कस्यचिदपकर्षमुत्कर्षं वा प्रतिपाद्य पुनस्तदन्यथाकरणम्। यथा—'जगति जयिनस्ते ते अत्र यं माधवप्रतीन्दुकलादयस्तुच्छप्रायाः स माधव एव मालत्यामुत्कर्षार्थं चन्द्रिकात्वमारोपयति। पुनरुक्तः ४ शब्देन ज्ञातः पुनस्तेनैव प्रतिपादितः। यथा—अर्कज्वालावलीढेत्यादौ चतुर्थपादवाक्यार्थः पुनरुक्तः। दुष्क्रम' ५ दुष्ट' अनुचितः क्रमो यत्र। यथा—भूपालरत्नेत्यादौ मातङ्गस्य प्राङ्निर्देशो दुष्टः। ग्राम्यः ६ ग्रामे भव'। यथा—'स्वपिति यावदयं निकटे जन' इत्यत्र रिरंसायाः स्पष्टकथनम्। सन्दिग्धः ७ यथा—मात्सर्यमुत्सार्येत्यादिपद्ये प्रकरणाद्यभावात् सन्देहः। निर्हेतुः ८ निष्क्रान्तो हेतुर्यस्मात् हेतुरहित इत्यर्थः। यथा—'गृहीतं येनासीः' इत्यादि-

पद्ये शस्त्रत्यागे हेतुर्न गृहीतः। प्रसिद्धिविरुद्ध ९ यथा—'इदं ते केनोक्तम्' इत्यत्र कामस्य चक्रं लोकेऽप्रसिद्धम्। विद्याविरुद्ध १० यथा—सदा स्नात्वा निशी थिन्यामित्यादौ ग्रहोपरागादिकं विना रात्रौ स्नानं धर्मशास्त्रे निषिद्धम्। अनवी कृत ११ एकप्रकारेणैव निर्दिष्टः। यथा—'प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किम्' इत्यादौ तत किमिति न नवीकृतम्। सनियमपरिवृत्त १२ सनियमं येन वस्तुमुचितं अनियमत्वेनोक्तं। यथा—यत्रानुल्लिखितार्थमेवेत्यादौ 'छायामात्रम णीकृताश्मसु मणेस्तस्याश्मतैवोचिता' इति वाच्यम्। अनियमपरिवृत्त १३ अ नियमत्वेन वक्तुमुचितो नियमत्वेनोक्त। यथा—वक्त्राम्भोजमित्यादौ 'शोण एव' इति नियमो न वाच्य। विशेषपरिवृत्त १४ विशेषेण वक्तुमुचितोऽपि सामान्येनोक्त। यथा—श्यामा श्यामलिमानमानयत्ते यादौ 'ज्योत्स्नाम्' इति श्यामाविशेषो वाच्य। अविशेषपरिवृत्त १५ सामान्येन वक्तुमुचितोऽपि विशे षेणोक्त। यथा—कल्लोलवेल्लितदृषदित्यादौ 'एकेन किं न विहितो भवतः स नाम' इति सामान्यं वाच्यम्। साकाङ्क्ष १६ अर्थिरवे प्रकटीकृतेऽपीत्यादौ स्त्रीरत्नम् 'उपेक्षितुम्' इत्याकाङ्क्षति। अपदयुक्त १७ अपदे अस्थाने युक्तः सबद्धः। यथा- आज्ञा शक्रशिखामणिप्रणयिनीत्यादौ 'स्यात्वेदेव न रावण,' इत्यत एव समाप्यम्। सहचरभिन्न १८ सहचरेभ्यः सहोच्चरितेभ्यो भिन्नः विजातीयः। यथा—श्रुतेन बुद्धिरित्यादौ श्रुतादय उत्कृष्टा व्यसनमूर्खते च निकृष्टे। प्रकाशितविरुद्ध १९ प्रकाशितं विवक्षितार्थाद् विरुद्धोऽर्थो येन। यथा—लग्नं रागावृताङ्ग्येत्यादौ विदितं तेऽस्त्विंत्यनेन श्रीस्तस्मादपसरतीति विरुद्धं प्रकाश्यते। विध्ययुक्त २० यत्र विधानं युक्तं न भवेत्। यथा—'प्रयत्नपरिबोधितः' इत्यादौ शयितः प्रयत्नेन बोध्यसे इति विधेयम्। अनुवादायुक्त २१ यत्रानुवादो युक्तो न भवेद्। यथा- 'अरे रामाहस्ताभरण' इत्यादौ 'विरहिप्राणदमन' इति नानुवाद्यम्। त्यक्तपुन स्वीकृत २२ 'लग्नं रागावृताङ्ग्या' इत्यादौ विदितं तेऽस्त्वित्युपसहृतोऽपि तेने त्यादिना पुनरुपात्त। अश्लील २३ यथा हन्तुमेव प्रवृत्तस्येत्यादौ पुरुषलिङ्ग स्यापि प्रतीतिः।

प्रश्न ५—सोदाहरणा रसदोषा लेख्या।

उ० ५—रसदोषास्त्रयोदश सन्ति। व्यभिचारिणो, रसस्य, स्थायिभावस्य च स्वशब्देनोक्तौ क्रमेण त्रयो दोषाः। 'सव्रीडा दयितानने' 'तामनङ्गजयमङ्गल-

श्रियम्' 'संप्रहारे प्रहरणैः' इत्यादीनि क्रमेणोदाहरणानि ज्ञेयानि। अनुभावस्य कष्टकल्पनया व्यक्तिः ४। यथा—कर्पूरधूलिधवलेत्यादौ उद्दीपनालम्बनरूपः शृङ्गारयोग्या विभावा अनुभावपर्यवसायिनः स्थिता इति कष्टकल्पना। विभावस्य कष्टकल्पनया व्यक्तिः ५ यथा परिहरति रतिमित्यादौ रतिपरिहारादीनामनुभावानां करुणादावपि संभवात् कामिनीरूपो विभावो यत्नतः प्रतिपाद्यः। प्रतिकूलविभावादिग्रहः ६ प्रसादे वर्तस्वेत्यादौ शृङ्गारे प्रतिकूलस्य शान्तस्यानित्यताप्रकाशनरूपो विभावस्तत्प्रकाशितो निर्वेदश्च व्यभिचारी उपात्तः। दीप्तिः पुनः पुनः ७ यथा कुमारसम्भवे रतिविलापे। अकाण्डे प्रथनम् ८ अकाण्डे अनवसरे रसस्य प्रथनं विस्तारः। यथा—वेणीसंहारे द्वितीयेऽङ्केऽनेकवीरक्षये प्रवृत्ते भानुमत्या सह दुर्योधनस्य शृङ्गारवर्णनम्। अकाण्डे छेदः ९ यथा—वीरचरिते द्वितीयेऽङ्के राघवभार्गवयोर्धाराधिरूढे वीररसे, 'कङ्कणमोचनाय गच्छामि' इति राघवस्योक्तौ। अङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः १० यथा हयग्रीववधे हयग्रीवस्य। अङ्गिनोऽननुसंधानम् ११ यथा रत्नावल्यां चतुर्थेऽङ्के बाभ्रव्यागमने सागरिकाया विस्मृतिः। प्रकृतिविपर्ययः १२ दिव्यादिव्यदिव्यादिव्यभेदात् प्रकृतयस्त्रिविधाः सन्ति। तद्विपरीतवर्णनम्। यथा कुमारसंभवे शम्भोः शृङ्गारवर्णनम्। अनङ्गस्य रसानुपकारकस्य वर्णनम् १३ यथा कर्पूरमञ्जर्यां नायिकया स्वात्मना च कृतं वसन्तवर्णनमनादृत्य बन्दिवर्णितस्य राज्ञा प्रशंसनम्।

प्रश्नः ६—के दोषाः कुत्राद्दोषाः कुत्र गुणाः कुत्र च दोषगुणरहिताः? इति सोदाहरणं लिखत।

उ० ६—प्रसिद्धेऽर्थे निर्हेतुरदुष्टः। यथा—चन्द्रं गतेत्यादौ। अनुकरणे सर्वे दोषा अदोषाः। यथा—मृगचक्षुषमित्यादौ। अप्रयुक्तनिहतार्थौ श्लेषादावदुष्टौ। यथा—येन ध्वस्तमनोभवेनेत्यादौ। वक्त्राद्यौचित्यात् क्वचिद् दोषोऽपि गुणो भवति क्वचिन्न दोषो नापि गुणः। यथा—वैयाकरणादौ वक्तरि प्रतिपाद्ये च रौद्रादौ रसे व्यङ्ग्ये कष्टत्वं गुणः। 'दीधीङ्वेवीङ्सम' इत्याद्युदाहरणम्। नीरसे न गुणो नापि दोषः। यथा—शीर्णघ्राणाङ्घ्रिपाणीन्' इत्यादौ। अश्लीलं सुरतारम्भगोष्ठ्यां शमकथासु गुणः। यथा—करिहस्तेनेत्यादि, उत्तानोच्छूनमण्डूकेत्यादि च। सन्दिग्धमपि वाच्यमहिम्ना क्वचिन्नियतार्थप्रतीतिकृत्त्वेन व्याजस्तुतिपर्यवसायित्वे गुणः। यथा—पृथुकार्तस्वरपात्रमित्यादौ। प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोर्ज्ञे

स्वयं परामर्शे वाऽप्रतीतं गुणः । यथा—'आत्मारामा' 'षडधिकदशनेत्यादि । अधमप्रकृत्युक्तिषु ग्राम्यो गुणः । यथा—पुष्पोत्करं कलमभक्तनिभमित्यादि । न्यूनपदं क्वचिद्गुणः क्वचिन्न गुणो नापि दोषः । गाढालिङ्गनेत्यादि, तिष्ठेत् कोप-वशादित्यादि च क्रमेणोदाहरणम् । अधिकपदं क्वचिद् गुणः । यथा—'वद वद जितः' इत्यादौ कथितपदं लाटानुप्रासे अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्ये विहितस्यानुवाद्यत्वे च । 'सितकरकररुचिरविभा' । 'तदा जायन्ते गुणा' 'जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणम्' इत्यादीनि क्रमेणोदाहरणानि । पतत्प्रकर्षं क्वचिद् गुणः, यथा—प्राग प्राप्तेत्यादौ । समाप्तपुनरात्तं न क्वचिद्दोषः नापि गुणः । यत्र न विशेषणमात्रदानार्थं पुनर्ग्रहणमपि तु वाक्यान्तरमेव क्रियते । यथा—'प्रागप्राप्तेत्यादौ । अपदस्थ समासः क्वचिद् गुणः यथा—रक्ताशोकेत्यादौ । गर्भितमपि क्वचिद् गुणः । यथा—'भवाम्यपहस्तितरेखः' इत्यादि । क्वचित् सञ्चारिणः स्वशब्दोक्तावपि न दोषः । यथा—'औत्सुक्येन कृतत्वरा' इत्यादि । प्रकृतरसपरिपोषकृतो विरुद्धस्य सञ्चार्यादेर्बाध्यत्वेनोक्तिर्गुणावहा भवति । यथा–'क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः' इत्यादौ ।

प्रश्न ७—रसयोर्विरोधपरिहारः कथं भवति ?

उ० ७—रसयोर्विरोधो द्विविधोऽस्ति दैशिकः कालिकश्च । ययोर्दैशिको विरोधोऽस्ति तयोरेको भिन्नसंश्रयः कार्यः । ययोः कालिको विरोधोऽस्ति तयोर्मध्ये भिन्नो रसो निवेशनीयः । यथा वीरभयानकयोर्दैशिकविरोधोऽस्ति तस्माद् भयानकः शत्रुगतत्वेन वर्णनीयः । शान्तशृङ्गारयोः कालिकविरोधोऽस्ति तत्रान्यो रसो मध्ये निवेश्यः । यथा नागानन्दनाटके शान्तस्य जीमूतवाहनस्य 'अहो गीतम्' 'अहो वादित्रम्' इत्यद्भुतमन्तर्निवेश्य मलयवतीं प्रति शृङ्गारो निबद्धः । किञ्च—विरुद्धोऽपि कश्चित् रसः प्रधानरसेन सह स्मर्यमाणश्चेद् न दुष्टः । साम्येन विवक्षितोऽथवा प्रधानरसोपकारको विरुद्धो न दुष्टः । 'अयं स रसनो-त्कर्षी—'दन्तक्षतानि करजैश्च'—'क्रामन्त्यः क्षतकोमलाङ्गुलिगलद्रक्तैः' इत्या-दीनि क्रमेणोदाहरणानि ।

प्रश्न ८—'यत्तदोर्नित्यः सम्बन्धः स्पष्टीक्रियताम् । अथवा 'अपाङ्ग-संसर्गि' इत्यादिपद्ये योऽसाविति पदद्वयमनुपादीयमानप्रतीतिकृत् कथम् ?

उ० ८—प्रक्रान्तप्रसिद्धानुभूतार्थविषयस्तच्छब्दो यच्छब्दोपादानं नापेक्षते । 'कातर्यं केवला नीतिः'–'द्वयं गतं सम्प्रति'–'उत्कम्पिनी' इत्यादीन्युदाहरणानि ।

एवमुत्तरवाक्ये गृहीतो यच्छब्दः पूर्ववाक्यानुगतस्य तच्छब्दस्योपादानं नापेक्षते। यथा—'साधु चन्द्रमसि पुष्करैः' इत्यादौ पूर्वं पठितस्तु यच्छब्दस्तच्छब्दोपादानं नूनमपेक्षते। क्वचिदनुपादानेऽपि सामर्थ्याद् द्वयमपि प्रतीयते। यथा—'ये नाम केचिदिह' इत्यत्र य उत्पत्स्यते तम्प्रतीति गम्यते। एवञ्च 'अपाङ्गसंसर्गि' इत्यादिपद्ये यच्छब्दस्तच्छब्दानुपादानात् साकाङ्क्षः। न चादश्शब्दोऽपि तच्छब्दार्थं प्रतिपादयतीति वाच्यम् 'असौ मरुच्चुम्बित' इत्यादौ तच्छब्दार्थप्रतीत्यभावात्। इतरथा 'करवालकरालेत्यादौ 'स' इत्यस्यानर्थक्यं स्यात्। ननु 'सोऽविकल्पमिदमर्धमण्डलम्' इत्यत्र यथा इदं शब्दस्तच्छब्दार्थमाह तथाऽदश्शब्दोऽपि कथयितुमर्हतीति चेन्नात्रैव वाक्यान्तरेऽदसो ग्रहणं कार्यं न तु तत्रैव। यच्छब्दस्य समीपे स्थितस्तु प्रसिद्धिं परामृशति। यथा—'यत्तदूर्जितमत्युग्रमि'त्यादिपद्ये। न च 'कल्याणानां त्वमसी'त्यादिपद्येऽविमृष्टविधेयांशोऽपरिहार्यो यच्छब्दस्यैकस्य निराकाङ्क्षत्वेऽपि द्वितीयस्य साकाङ्क्षत्वादिति वाच्यम्, यद्यदिति येन केनचिद्रूपेण स्थितं सर्वात्मकं वस्त्वाक्षिप्तं तथाभूतमेव तच्छब्देन परामृश्यते।

प्रश्नः ९—अत्राकर्णनक्रियाकर्मत्वे कोदण्डं शरानित्यादिवाक्यार्थस्य कर्मत्वे कोदण्डः शरा इति प्राप्तम्। न च यच्छब्दार्थस्तद्विशेषणं वा कोदण्डादि। न च केन केनेत्यादिप्रश्नः। उपरितनं सन्दर्भं स्पष्टयत।

उ० ९—अत्राभवन्मतयोगोदाहरणे 'सङ्ग्रामाङ्गणमागतेने'त्यादिपद्ये यदि कोदण्डादय आकर्णनक्रियाया कर्माणि तदा कोदण्डं शरानिति द्वितीया प्राप्नोति 'कर्मणि द्वितीया' इत्यनुशासनात्। यदि कोदण्डादीनां वाक्यार्थविधयाऽन्वयस्तर्हि 'यो यो वीरः समायातः' इत्यादिवत् 'कोदण्डः शरा' इति प्रथमा स्यात् कर्मत्वाद्यभावात् प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमाविधानाच्च। ननु यच्छब्देन कोदण्डादिरेव प्रतीयते ततश्च यथा यच्छब्दात् तृतीया तथैव कोदण्डादितस्तृतीया युक्तैवेति चेन्न तथा सति कोदण्डादीनां पुनरुपादानं घटो घट इतिवत् व्यर्थं स्यात्। न च कोदण्डादेर्यच्छब्दार्थो विशेषणमथवा यच्छब्दार्थस्य कोदण्डादिर्विशेषणमिति वाच्यम्, आद्ये येन कोदण्डेन यत् शराः समासादितं तत् आकर्णयेति वाक्यार्थपर्यवसानेन 'केन कोदण्डेन के शराः' इति विशेषाकाङ्क्षाया अनिवृत्तिप्रसङ्गः। कोदण्डेन येन यत् शराः समासादितं तदाकर्णयेति द्वितीयकल्पेऽपि

पूर्वोक्त एव दोषः। ननु येन यदिति सामान्यतो बोधे केन केन किमिति विशेष-प्रश्ने सति तच्छान्त्यर्थं कोदण्डेन शरा इत्याद्युक्तमिति चेन्न केन केनेति प्रश्नाभावात्।

प्रश्नः १०—'नैकं पदं द्विः प्रयोज्यं प्रायेण' इत्यस्य क आशयः।

उ० १०—ननु भग्नप्रक्रमे तस्यैव शब्दस्य प्रयोगः कर्तव्य इति यदुक्तं तद् वदतो व्याघातं नातिशेते तादृशस्थले कथितपदाङ्गीकारात्, इति चेन्नोद्देश्यप्रति-निर्देश्यभिन्नस्थल एवैकपदप्रयोगनिषेधस्याङ्गीकारात्। तद्विषये तस्यैव शब्दस्य, सर्वनाम्नो वा प्रयोगं विना दोषाङ्गीकारात्। यथा—'उदेति सविते'त्यादिपद्ये उद्देश्यप्रतिनिर्देश्यभावसत्त्वात् तच्छब्दस्यैव पुनरुपादानम्। रक्तादिपदग्रहणे अर्थान्तरतयेव प्रतिभासमानः प्रतीतिं स्थगयेदिति।

इति सप्तमोल्लासः।



अथ अष्टमोल्लासः

प्र० १—गुणालङ्कारयोरन्यमतनिराकरणसहितं सलक्षणमन्तरं प्रतिपादयत ।

उ० १—ये प्रधानस्य रसस्य धर्मा सन्ति । यथाऽऽत्मनः शौर्यादयो धर्मा सन्ति । ये च रसोत्कर्षस्य हेतुभूता । ये च रसं विना नावतिष्ठन्ते ते गुणा इत्युच्यन्ते । शौर्यादयो धर्मा आत्मन एव नतु शरीरस्यैवमेव माधुर्यादयो रसस्यैव धर्मा न तु वर्णानाम् । ये शब्दार्थद्वारेण सम्भविनं रसं कदाचिदुपकुर्वन्ति न तु सर्वदा । यथा हारादयः कण्ठाद्यङ्गानामतिशयाधानद्वारेण आत्मनोऽप्युपकारका स्तथैव शब्दार्थद्वारेण ये कदाचित् सम्भविनं रसमुपकुर्वन्ति तेऽनुप्रासोपमादयोऽलङ्कार इति नाम्ना व्यवह्रियन्ते । गुणा रसं विना नावतिष्ठन्तेऽलङ्कारा अवतिष्ठन्ते। गुणा सर्वदा रसोपकारका अलङ्कारा कदाचिदेवेति गुणालङ्कारभेदः । ननु गुणालङ्कारयोर्लौकिकाप्रवाहेणैव भेदः । समवायवृत्त्या अपृथक्स्थितयात्मकलस्यन्धन शौर्यादय , संयोगेन हारादय इति गुणालङ्कारभेदस्य ओज प्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनाञ्चोभयेषामपि समवायवृत्तिदर्शनेन व्यभिचारादिति चेन्न, गुणालङ्कारयोरलौक्याऽकाव्यभेदसत्त्वात् । न च 'काव्यशोभाया कर्तारो धर्मा गुणास्तदतिशयहेतवस्त्वलङ्कारा इति गुणालङ्कारयोर्लक्षणं स्यादिति वाच्यम्, समस्तैर्गुणैः काव्यव्यवहार आहोस्वित् कतिपयै ? आद्येऽसमस्तगुणा गौडी पाञ्चाली च रीति कथं काव्यस्यात्मा, वामनमते—'रीतिरात्मा काव्यस्य' इति काव्यलक्षणात् । 'अन्त्ये 'अद्रावत्र स्याद्रिपद्येऽलङ्काराभावेऽपि ओज प्रभृतिगुणानां सत्त्वात् काव्यव्यवहारः प्राप्ति । अलङ्कारलक्षणमपि वामनोक्तं न युक्तं 'स्वर्गप्राप्तिरनेनैव' इत्यत्र गुणाभावाद् गुणकृतशोभातिशयहेतुत्वाभावादलङ्कारस्य । गुणनिरपेक्षौ विशेषोक्तिव्यतिरेकावेव 'स्वर्गप्राप्ति रित्यादिपद्ये काव्यव्यवहारस्य प्रवर्तकौ ।

प्र० २—गुणा कति सन्ति ? कस्मिन् २ रसे तेषां स्थिति ? किञ्च तेषां लक्षणम् ?

उ० २—गुणास्त्रय सन्ति माधुर्यौज प्रसादाख्या । 'आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम्' अर्थात् द्रुतिकारणम् आह्लादकत्वं नाम आनन्दस्वरूपत्वं माधुर्यं

मुच्यते। अयं गुण सम्भोगशृङ्गारे, करुणे, विप्रलम्भे, शान्ते च क्रमेणातिशयाधायको भवति। 'दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति' दीप्तिरूपा या आत्मनश्चित्तस्य विस्तृतिस्तस्य हेतु। अयमपि वीरे, बीभत्से, रौद्रे क्रमेणाधिक। 'शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत् सहसैव य व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थिति ॥' इति प्रसादलक्षणम्।

प्र० ३—प्राचीनोक्तानां दशशब्दगुणानां दशार्थगुणानाञ्च कथं त्रिषु गुणेष्वन्तर्भाव ?

उ० ३—बहूनां पदानामेकपदवद्भासनरूपो य श्लेष, यश्च गाढताशिथिलताक्रमरूप समाधि, या च विकटत्वलक्षणा उदारता, यश्चौजोमिश्रितशैथिल्यरूप प्रसाद, तेषामोजस्यन्तर्भावः। पृथक्पदत्वरूप माधुर्य प्रकारान्तरेण स्वीकृतम्। प्रसादेनार्थव्यक्तिश्चरितार्था। यया रीत्याऽऽरब्ध तयैव समापनमिति मार्गाभेदरूपा समता क्वचिद्दोष। यथा—'मत्तद्वन्द्वा किमु वक्तितै' इत्यादौ सिंहाभिधाने मसृणमार्गत्यागो गुण कष्टत्वग्राम्यत्वयोर्दोषेषु गणनादपारुष्यरूप सौकुमार्यमौज्ज्वल्यरूपा कान्तिश्च स्वीकृता। इत्थं दशशब्दगुणानामन्तर्भावो भवति। पञ्चविधा प्रौढिरस्ति। १-यथा पदार्थे वाक्यरचनम् चन्द्र इति वक्तव्ये 'अत्रिलोचनसम्भूत ज्योति'। वाक्यार्थे पदस्याभिधानम्। २ पूर्वस्य वैपरीत्यमुदाहरणम्। ३-एकवाक्यार्थस्यानेकवाक्येन प्रतिपादनम्। ४-अनेकवाक्यार्थस्यैकवाक्येन प्रतिपादनम्। ५ विशेषणस्य सार्थकत्वम्। इयं प्रौढिर्यदोज इत्युक्त तद् वैचित्र्यमात्रं न तु गुण। तदभावेऽपि काव्यव्यवहारप्रवृत्ते। अपुष्टार्थनिराकरणेन साभिप्रायत्वरूप मोज, अधिकपदत्वनिराकरणेनार्थवैमल्यात्मा प्रसाद, अनवीकृतनिराकरणेन उक्तिवैचित्र्यरूप माधुर्यम्, अमङ्गलरूपाश्लीलनिराकरणेन अपारुष्यरूप सौकुमार्यम्, अग्राम्यरूपोदारता च ग्राम्यनिराकरणेन स्वीकृता। स्वभावोक्त्यलङ्कारेण अर्थव्यक्ति, रसध्वनिना रसवदलङ्काररूपगुणीभूतव्यङ्ग्येन च दीप्तरसरूपा कान्ति, क्रमस्य योऽतिक्रमस्तस्य याऽस्फुटता तत्र या युक्तिस्तत्सम्बन्धरचनारूप श्लेषोऽपि विचित्रत्वमात्रम्। अवैषम्यरूपा समता दोषाभावो न तु गुण। अर्थदर्शनरूपो य समाधि स न गुणो यतो ह्यन्येनावर्णितस्य वर्णितस्य वाऽर्थस्यानुसन्धानं विना काव्यनिर्माणं न भवितुमर्हति। काव्यशरीरकारणं गुणो न भवितुमर्हति तस्मादर्थगुणा अपि पृथङ् न वक्तव्या।

प्र० ४—कस्य गुणस्य के वर्णा व्यञ्जका इति सोदाहरणं प्रतिपादयत।

उ० ४—टटडढवर्जिताः कादयो मान्ता निजवर्गान्त्ययुक्ताः शिरसि, तथा ह्रस्वस्वरयुतौ रेफणकारौ अल्पसमासो मध्यमसमासो वा तथा च माधुर्यवती रचना माधुर्यस्य व्यञ्जिका भवति। यथा—अनङ्गरङ्गप्रतिममित्यादि। आद्यतृतीयाभ्यां सह द्वितीयचतुर्थयोः सम्बन्धः। तथा रेफस्याध उपरि उभयत्र वा सम्बन्धः। समानाकारयोः कयोश्चित् संयोगः। टठडढाः शकारः षकारो दीर्घसमासो विकटरचना च ओजोनामकस्य गुणस्य व्यञ्जिका भवति, यथा—मूर्ध्नामुद्वृत्तकृत्तेत्यादि। येन शब्देन समासेन रचनया वा श्रवणमात्रेणार्थज्ञानं भवेत् स प्रसादव्यञ्जकः। यथा—परिम्लानं पीनस्तनजघनेत्यादि।

प्र० ५—रचनावृत्तिवर्णानामन्यथात्वं कथं भवतीति सोदाहरणं प्रतिपादयत।

उ० ५—यद्यपि रचनादयो गुणाधीनास्तथापि वक्त्रौचित्यात् वाच्यौचित्यात् प्रबन्धौचित्याच्च क्वचिद् रचनादीनामन्यथात्वमपि भवति। यथा—'मन्थायस्तार्णवाम्भः' इत्यादि 'प्रौढच्छेदानुरूपोच्छलन' इत्यादि च। आद्ये भीमसेनो वक्ता द्वितीये तु वाच्यं-कुम्भकर्णोत्तमाङ्ग-तदपेक्षया रचना। एवं प्रबन्धापेक्षयाऽऽख्यायिकायां शृङ्गारेऽपि न मसृणवर्णादयः। कथायां रौद्रेऽपि नात्यन्तमुद्धताः। नाटकादौ रौद्रेऽपि न दीर्घसमासादयः।

इत्यष्टमोल्लासः।



अथ नवमोल्लासः

प्र० १—वृत्तयः कति भवन्ति, किञ्च तासां लक्षणं, किञ्चोदाहरणम्?

उ० १—रसविषयव्यापारवती वर्णरचना वृत्तिः। तिस्रो वृत्तयः सन्ति। उपनागरिका परुषा कोमला च। 'माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते', 'ओजःप्रकाशकैस्तु परुषा' 'कोमला परैः' इति क्रमेण लक्षणानि। माधुर्यौजोगुणयोर्ये उदाहरणे ते आद्ययोरुदाहरणे। कोमलायास्तु—'अपसारय घनसारमि'त्यादिकम्। एता एव वैदर्भी-गौडी-पाञ्चालीति नाम्ना क्रमेण व्यपदिश्यन्ते। कोमला तु ग्राम्येत्यपि मण्यते वृत्तिरेव रीतिरिति कथ्यते।

प्र० २—सलक्षणान् सभेदान् सोदाहरणान् शब्दालङ्कारान् प्रतिपादयत।

उ० २—अस्योत्तरं निम्नप्रकोष्ठे द्रष्टव्यम्।

अलङ्काराः	लक्षणानि	भेदाः	उदाहरणानि
वक्रोक्तिः	यदुक्तमन्यथे	१ श्लेषेण २ काक्वा	नारीणामनुकूलमाचरसि गुरुजनेत्यादि
अनुप्रासः	वर्णसाम्यमनुप्रासः	छेकानुप्रासः वृत्त्यनुप्रासः लाटानुप्रासः	
छेकानुप्रासः	सोऽनेकस्य सकृत् पूर्वः		ततोऽरुणपरिस्पन्देति
वृत्त्यनुप्रासः	एकस्याप्यसकृत् परः		
लाटानुप्रासः	शाब्दस्तु	१ पदानाम्	यस्य न सविधे०

अलङ्काराः	लक्षणानि	भेदाः	उदाहरणानि
(पदानुप्रासः)	लाटानुप्रासः	२ पदस्य ३ एकसमासे ४ भिन्नसमासे ५ समासासमासयोः (प्रातिपदिकस्य)	वदनं वरवर्णिन्याः सित्करकरेति-
यमकम्	अर्थे सत्यर्थ-भिन्नानामि त्यादि	द्व पादजं नवभेदम् , द्विधा विभक्ते पादे विंशतिभेदम् , त्रिखण्डे त्रिंशत् , चतुःखण्डे चत्वारिंशत् , प्रथमपादस्य तृतीयपादयमने-	सन्नारीभरणोमायम्
		प्रथमस्य द्वितीये तृतीयस्य चतुर्थे-	विना यमेनोनयता सुखादिना-
		श्लोकाभ्यासे	सरवारम्भरतो-
		द्वितीयपादान्तभागस्य चतुर्थपादान्तभागयमने-	अनन्तमहिमव्याप्त-
		आदिभागस्यान्तभागयमने-	यदानतोऽयदानतः ।
		आद्यन्तिक पूर्वार्धे-उत्तरार्धे आद्यन्तिकमन्तादिकं चेति	सरस्वती प्रसाद मे-
		द्वयोरप्यर्धयोराद्यन्तिकान्तादिके च०	ससारसाकमित्यादि-
		अनियतस्थानावृत्ति०	मधुपराजीत्यादि०
श्लेषः	वाच्यभेदेन भिन्ना यत्	वर्ण पद लिङ्ग भाषा प्रकृति प्रत्यय विभक्ति वचनभेदात् प्रकृत्याद्यष्टभेदाभावाच्च नवविधः ।	
		१ वर्णे-	अलङ्कारः शङ्काकरेति०
		२ पदे-	पृथुकार्तस्वरपात्रम्०
		३ लिङ्गे-	भक्तिप्रह्वेति०
		४ भाषायाम्-	महदे सुरसंधम्मे०
		५ प्रकृतौ-	अयं सर्वाणि०
		६ प्रत्यये-	रजनिरमणमौलेः०

अलङ्काराः	लक्षणानि	भेदाः	उदाहरणानि
		७ विभक्तौ-	सर्वस्व हरेति-
		८ वचने-	महिम्हेनि-
		९ प्रकृत्यादिभेदाभावे-	योऽसकृत् परगोत्राणाद्-
चित्रम्	तच्चित्रं यत्र वर्णानामिति	खड्गे-	मारारिशक्रेति-
		मुरजे-	सरला बहुलारम्भेति-
		पद्मे-	भासते प्रतिभासारेति-
		सर्वतोभद्रे-	रसासाररसेति-
पुनरुक्तवदाभासः	पुनरुक्तवदाभासो विभिन्नाकारशब्दगा। एकार्थतेव	सभङ्गशब्दनिष्ठ -	अरिवधदेहशरीरः
		अभङ्गशब्दनिष्ठ -	न चक्रस्त्यङ्गनारामा -
		शब्दार्थनिष्ठ -	तनुवपरजघन्योऽसौ-

प्र० ३—'अर्थभेदेन शब्दभेदः'–'काव्यमार्गे स्वरो न गण्यते' अनयोः क आशयः।

उ० ३—अयं भावः–'सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति' इति नये एकशब्देनैकस्यैवार्थस्य प्रतीतिरर्थद्वयप्रतीत्यर्थं श्लेषस्थले एकाकारौ द्वौ शब्दौ स्त इत्यवश्यमङ्गीकार्यम्। तौ चैकेन प्रयत्नेनैकदोच्चार्यतया पृथक्त्वया नानुभूयेते। ननु भिन्नसमासानामिन्द्रशत्रुप्रभृतीनां श्लेषे उदात्तानुदात्तादिस्वरभेदादेकत्वतया भानमनुपपन्नमिति चेन्न, 'काव्यमार्गे स्वरो न गण्यते' इत्यङ्गीकारात्। अत एव 'विभाषा छन्दसि', (१।२।३६) इति पाणिनीयसूत्रे तन्त्रेण आवृत्त्या 'वाऽच्छन्दसीति' मत्वं प्रश्लिष्य भाषायामपि वैकल्पिकी एकश्रुतिरङ्गीक्रियते।

प्र० ४—अभङ्गश्लेषः शब्दालङ्कारोऽर्थालङ्कारो वा ? श्लेष उपमाद्यलङ्कारबाधको न वा ? शब्दरूपोऽर्थरूपश्च श्लेषोऽर्थालङ्कारोऽस्ति न वा?

उ० ४—ननु अभङ्गश्लेषः स्वरितादिगुणभेदाभावादेकप्रयत्नोच्चार्यत्वादर्थचमत्कृतिमत्त्वाच्चार्थश्लेषः कथं नाभ्युपगम्यते इति चेन्न, दोषगुणालङ्कारविभागस्यान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्। शब्दपरिवृत्तिसहे 'स्तोकेनोन्नतिमायाति' इत्यादावेवार्थश्लेषस्य सत्त्वात्। न चोपमादीनां श्लेषाप्रसङ्गीर्णतया श्लेषस्य चालङ्कारान्त-

रसंकीर्णतयोपमाद्यलङ्कारबाधकः श्लेष इति वाच्यम्, गुणक्रियासाम्यवच्छब्दसाम्य स्याप्युपमाप्रयोजकत्वात्, 'स्फुटमर्थालङ्कारावेतौ' इति रुद्रटोक्तत्वाच्च। ननु 'कमलमिव मुखम्' इत्यादिः साधारणधर्मप्रयोगशून्य उपमाविषय इति चेन्न, पूर्णोपमाया निर्विषयत्वात्। 'देव त्वमेव पातालम्' इत्यादिः श्लेषस्य चोपमाद्यलङ्कारभिन्नो विषयोऽस्ति। द्वयोर्योगे संकरः। वस्तुत उपमान्यपदेश एव बलीयान् प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्तीति नियमात्। श्लेषं विना साधारणधर्मसम्भवो नास्ति। साधारणधर्मं विना च नोपमा भवितुमर्हति 'साधर्म्यमुपमा भेदे', इति तल्लक्षणात्। 'अविन्दुसुन्दरी नित्यं गलल्लावण्यविन्दुका' इत्यादौ विरोधज्ञानोत्पत्तिहेतुकः श्लेषो नास्ति प्रत्युत श्लेषज्ञानोत्पत्तिहेतुको विरोधोऽस्ति। न ह्यत्रार्थद्वयप्रतिपादकः श्लेषो द्वितीयार्थस्य प्रतिभातमात्रस्य शाब्दबोधाविषयत्वात्। ननूभयविधश्लेषस्यार्थालङ्कारत्वं स्यादिति चेन्न वदतो व्याघातात्। शब्दश्लेषः कथ्यतेऽर्थालङ्कारमध्ये गण्यते। किञ्च चमत्कारजनकता यत्र भवेत्तस्यैवालङ्कारता युक्ता, शब्दस्य चमत्कारित्वे शब्दालङ्कारतैवोचिता। अर्थसापेक्षत्वादत्र शब्दानामर्थश्लेष इति चेदनुप्रासादीनामप्यर्थालङ्कारतापत्तेः। रसाद्यनुगतः प्रकृष्टो न्यास इति व्युत्पत्त्यनुसारमनुप्रासो रसव्यञ्जकं स्वरूपमपेक्षते रसश्चार्थं विना न भवतीति तात्पर्यम्। शब्दगुणदोषालङ्काराणामर्थापेक्षयाऽर्थगुणदोषालङ्काराणां शब्दापेक्षया व्यवस्थितिरिति तेऽपि क्रमेणार्थगतत्वेन च अप्येरन्। अन्यच्च—'विधौ वक्रे मूर्ध्नि' इत्यादौ वर्णादिश्लेषे एकप्रयत्नोच्चार्यत्वाच्छब्दभेदेऽप्यर्थश्लेषत्वं प्रसज्येत तस्मादभङ्गश्लेषोऽर्थालङ्कार एवालङ्कारान्तरस्य चाबाधक एवेति स्थितम्।

इति नवमोल्लासः।



अथ दशम उल्लासः ।

प्र० १—सलक्षणान् सभेदान् सोदाहरणान् अर्थालङ्कारान् प्रतिपादयत ।

उ०—१ अस्योत्तरं निम्नकोष्ठे द्रष्टव्यम् ।

अलङ्कारनाम	लक्षणानि	भेदाः	उदाहरणानि
१. उपमा	साधर्म्यमुपमा भेदे-	वाक्यगतश्रौती-	स्वप्नेऽपि समरेषु० १०
		वाक्यगतार्थी-	चकितहरिणलोल०
		समासगतश्रौती-	अत्यायतैर्नियमकारिभि:०
		समासगतार्थी-	अविनयमनोरथपथ०
		तद्धितगश्रौती-	गाम्भीर्यगरिमा०
		तद्धितगतार्थी-	दुरालोकः स समरे०
		वाक्यगतधर्मलुप्ता श्रौती-	धन्यस्यानन्यसामान्य०
		वाक्यगतार्थी धर्म०-	आकृष्टकरवालोऽसौ०
		समासगतश्रौती धर्म०-	करवाल इवाचार०
		समासगतार्थी धर्म०-	तस्य बाहूनोपमा०
		तद्धितगतार्थी धर्म०	विषकस्पन्०
		वाक्यगतोपमानलुप्ता(आर्थी)-	सकलकरणपरविश्रामश्रि० कल्पममिति पाठे सति समस्यत्र पूर्णमिति पाठे च समासगा०
		उपमाप्रतिपादकलोपे (द्विपदसमासगा)-	ततः कुमुदनाथेन०
		बहुपदसमासगा उपमा-	असितभुजग०
		कर्माधिकरणयोः क्यचि क्यङि- चोपमाप्रतिपादकलोपे-	पौरं सुतीयति- जन समरान्तरे०
		कर्मणि कर्तरि च- णमुल्युपमाप्रतिपादकलोपे-	मृधे निदाघघर्मांशु- दर्शम्०
		धर्मवाचोर्लोपे क्विप्-प्रत्यय समासगता च	सविता विधवति० परिपन्थिमनो०
		धर्मोपमानयोर्लोपे-समासगा	डुण्ढुायमानः०

अलङ्कारनाम	लक्षणानि	भेदाः	उदाहरणानि
		वाक्यगा च-	कुसुमेन सममिति पाठे वाक्यगा०
		वाचुपमेयलोपे क्वचि-	अरातिविक्रम०
		उपमेयातिरिक्तत्रितयलोपे	तरुणिमनि कृतावलोकना०
२. अनन्वय	उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे		न केवल भाति० न केवल भाति नितान्त कान्तिः०
३ उपमेयोपमा	विपर्यास उपमेयोपमा तयोः		कमलेव मतिर्मतिरिव कमला०
४ उत्प्रेक्षा	सम्भावनमथोत्प्रेक्षा		उन्मेष यो मम न सहते०
५ सन्देह०	ससन्देहस्तु भेदोक्तौ	१ भेदोक्तौ निश्चयगर्भः- २ भेदोक्तौ निश्चयान्तः- ३ भेदानुक्तौ-	अयं मार्तण्डः किं स खलु इन्दुः किं कलङ्कः० अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूत्०
६. रूपकम्	तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः	१ समस्तवस्तुविषयरूपकम्-	ज्योत्स्ना भस्मच्छुरणधवला०
एकदेशविवर्ति	श्रौता आर्थाश्च ते-	२ एकदेशविवर्तिरूपकम्- ३ निरङ्गरूपकम्- ४ निरङ्गमालारूपकम्-	यस्य रणान्तःपुरे करे० कुरङ्गीवाङ्गानि० सौन्दर्यस्य तरङ्गिणी०
परम्परित रूपकम्	नियतारोपणोपायः-	५ श्लिष्टमालापरम्परित रूपकम्- ६ अश्लिष्टमालापरम्परित रूपकम्- ७ श्लिष्टकेवलपरम्परित रूपकम्- ८ अश्लिष्टकेवलरूपकम्- ९ रशनारूपकम्-	विद्वन्मानसहंस० आलानं जयकुञ्जरस्य० अलौकिकमहालोक० निरवधि च निराश्रयं च० विमलवदनैर्नृणाम्०
७ अपह्नुतिः	प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्०		अवाप्तः प्रागल्भ्यम्०

अलङ्कारनाम	लक्षणानि	भेदाः	उदाहरणानि
८ श्लेषः	श्लेषः स वाक्ये एकस्मिन्-		उदयमयते दिङ्मालिन्यम्०
९. समासोक्ति	परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः०		लहरा तव बाहुस्पर्शम्०
१०. निदर्शना	अभवन् वस्तु सम्बन्धः-		क्व सूर्यप्रभवो वंशः०
		मालारूपा निदर्शना-	दोर्भ्यां तितीर्षति०
निदर्शना (अपरा)	स्वस्वहेत्वन्वयस्योक्तिः-		उन्नतपदमवाप्य यो लघु ०
११ अप्रस्तुत प्रशंसा	अप्रस्तुतप्रशंसा या सा-	१ कार्ये प्रस्तुते कारणस्य वर्णनम्-	याताः किं न मिलन्ति०
		२ कारणे प्रस्तुते कार्यस्य वर्णनम्-	राजन् राजसुता न पाठयति
		३ सामान्ये प्रस्तुते विशेषस्य व	एतत्तस्य मुखात् कियत्०
		४ विशेषे प्रस्तुते सामान्यस्य व	सुहृद्वधूबाष्पजलप्रमार्जनं०
		५ श्लेषहेतुकाप्रस्तुतप्रशंसा-	पुंस्त्वादपि प्रविचलेद्०
		समासोक्तिहेतुकाप्रस्तुत प्रशंसा-	येनास्यभ्युदितेन०
		सादृश्यमात्रहेतुकाप्रस्तुत प्रशंसा-	आदाय वारि परितः०
		वाच्ये प्रतीयमानार्थानध्यारोपेण-	अब्धेरम्भः०
		अध्यारोपेण-	कस्त्वं भोः कथयामि-
		अंशेऽध्यारोपेण-	सोऽपूर्वो रसनाविपर्ययविधिः
१२. अतिशयोक्तिः	निगीर्याध्यवसानतु प्रकृतस्य	उपमानेन निगीर्णस्योपमेयस्याध्यवसानम्-	कमलमनम्भसि०
		प्रस्तुतस्यान्यत्वम्-	अन्यत् सौकुमार्यम्०
		यद्यर्थोक्तौ कल्पनम्-	राकायामकलङ्कम्०
		कारणकार्ययोः पौर्वापर्य विपर्ययः-	हृदयमधिष्ठितमादौ०

अलङ्कारनाम	लक्षणानि	भेदा	उदाहरणानि
१३ प्रतिवस्तूपमा	प्रतिवस्तूपमा सा, सामान्यस्य द्विरेकस्य	अमाला प्रतिवस्तूपमा–	देवीभावं गमिता०
		माला प्रतिवस्तूपमा–	यदि दहत्यनलोऽत्र०
१४ दृष्टान्त	दृष्टान्त पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबि०–	साधर्म्येण–	त्वयि दृष्टे एव तस्या ०
		वैधर्म्येण	तवाहवे साहसकर्मशर्मण ०
१५ दीपकम्	सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य	क्रियादीपकम्	कृपणानां धनं नागानां फणमणि ०
		कारकदीपकम्	स्विद्यति कूणति०
मालादीपकम्	मालादीपकमाद्य चेद्–	मालादीपकम्	सङ्ग्रामाङ्गणमागतेन०
१६ तुल्ययोगिता	नियतानां सकृद्धर्म सा–	प्राकरणिकानां सकृद् धर्मं	पाण्डु क्षामं वदनम्०
		अप्राकरणिकानां सकृद् धर्मं	कुमुदकमलनील–
१७ व्यतिरेक	उपमानाद् यदन्यस्य–	श्लिष्टे हेत्वोरुक्तौ शाब्दं साम्यम्–	असिमात्रसहायस्य। अत्र तुच्छेति महाधृतेरनयो पर्यायेण युगपद्–वाऽनुपादाने भेदत्रयम्।
		आर्थं साम्यम्	असिमात्रसहायोऽपि०
		अ० हे० आक्षिप्तं साम्यम्	इयं सुनयना०
		श्लिष्टे हेत्वोरुक्तौ शाब्दं साम्यम्	जितेन्द्रियतया सम्यक्०
		श्लि० हे० उ० आर्थं साम्यम्–	अखण्डमण्डल श्रीमान्०
		श्लि० आर्थसाम्ये मालाव्यति०	हरवन्न विषमदृष्टि ०
		श्लि० हे० उ० आक्षिप्तं साम्यम्	नित्योदितप्रतापेन०
१८ आक्षेप	निषेधो वक्तुमिष्टस्य–	वक्ष्यमाणविषय	ए एहि किमपि कस्या ०
		उक्तविषय –	ज्योत्स्ना मौक्तिकदाम०

अलङ्कारनाम	लक्षणानि	भेदाः	उदाहरणानि
१९ विभावना	क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्ति॰		कुसुमितलताभिरहताऽप्यधत्त॰
२० विशेषोक्ति	विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावच	अनुक्तनिमित्ता	निद्रानिवृत्तावुदिते॰
		उक्तनिमित्ता	कर्पूर इव दग्धोऽपि॰
		अचिन्त्यनिमित्ता	स एकस्त्रीणि जयति॰
२१ यथासंख्यम्	यथासंख्य क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वय		एकस्त्रिधा वससि चेतसि॰
२२ अर्थान्तरन्यास	सामान्य वा विशेषो वा-	विशेषेण सामान्यस्य साधर्म्येण समर्थनम्	निजदोषावृतमनसाम्॰
		सा॰ वि॰ साधर्म्येण समर्थनम्	सुसितवसनालङ्कारायाम्॰
		विशे॰ सा॰ वैधर्म्येण समर्थनम्	गुणानामेव दौरात्म्यात्॰
		सा॰ वि॰ वैधर्म्येण समर्थनम्-	अहो हि मे बह्वपराद्धमायुषा
२३ विरोधाभास	विरोधः सोऽविरोधेऽपि	१ जातेर्जात्या	अभिनवनलिनी॰
		२ जातेर्गुणेन	गिरयोऽप्यनुन्नतियुज॰
		३ जाते क्रियया	वैधाकण्ठपरिग्रहप्रणयिताम्
		४ जातेर्द्रव्येण	सृजति च जगदिदमवति॰
		५ गुणस्य गुणेन	सतत मुसलासक्ता॰
		६ गुणस्य क्रियया	पेशलमपि खलवचनम्॰
		७ गुणस्य द्रव्येण	क्रौञ्चाद्रिरुद्दाम॰
		८ क्रियायाः क्रियया	परिच्छेदातीत॰
		९ क्रियाया द्रव्येण	अयं वारामेको निलय॰
		१० द्रव्यस्य द्रव्येण	समदमतङ्गजमद॰
२४ स्वभावोक्ति	स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः		पश्चादङ्घ्री प्रसार्य॰

अलङ्कारनाम	लक्षणानि	भेदा	उदाहरणानि
२५ व्याजस्तुति	व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दा-	स्तुतिपर्यवसायिनी निन्दा	हित्वा त्वामुपरोधबन्ध्यमनसाम्०
		निन्दापर्यवसायिनी स्तुति	हे हेलाजितबोधिसत्त्व०
२६ सहोक्ति	सा सहोक्ति सहार्थस्य-		सह दिवसनिशाभिर्दीर्घा ०
२७ विनोक्ति	विनोक्ति सा विनाऽन्येन-	अशोभन	अरुचिर्निशया विना०
		शोभन	मृगलोचनया विना०
२८ परिवृत्ति	परिवृत्तिर्विनिमय -	समेन समस्य, उत्तमेन न्यूनस्य च- न्यूनेन उत्तमस्य	लतानामेतासामुदितकुसुमानाम्० नानाविधप्रहरणैर्नृप०
२९ भाविकम्	प्रत्यक्षा इव यद्भावा क्रियन्ते-		आसीदञ्जनमत्रेति पश्यामि०
३० काव्यलिङ्गम्	काव्यलिङ्ग हेतोर्वाक्य-पदार्थता	वाक्यार्थता	वपु प्रादुर्भावादनुमितमिद जन्मनि०
		अनेकपदार्थता एकपदार्थता	प्रणयिसखीसलील- परिहासरसाधिगतैर्ललितशिरीषपुष्प०
३१ पर्यायोक्तम्	पर्यायोक्त विनावाच्य वाचकत्वेन-		य प्रेक्ष्य चिररूढाऽपि
३२ उदात्तम्	उदात्त वस्तुन सम्पत्		मुक्ता केलिविसूत्रहार गलिता ०
	महतां चोपलक्षणम्		तदिदमरण्य यस्मिन्०
३३ समुच्चय	तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन्	असद्योग	दुर्वारा स्मरमार्गणा ०
		सद्योग	कुलममलिनम्०
		सदसद्योग	शशी दिवसधूसर ०

अलङ्कारनाम	अलङ्कारनाम	भेदाः	उदाहरणानि
	स त्वन्यो युगपद् वा गुणक्रियाः	गुणयौगपद्यम्	विदलितसकलारिकुलम्०
		क्रियायौगपद्यम्	अयमेकपदे तया०
		गुणक्रियायौगपद्यम्-	कलुषं च तवाहितेष्वकस्मात्०
३४. पर्यायः	एकं क्रमेणानेकस्मिन् पर्यायः	एकमनेकत्र भवति	नन्वाश्रयस्थितिरियं तव०
		एकमनेकत्र क्रियते	तत्तेषां श्रीसहोदररत्नाभरणे०
		अनेकमेकत्र भवति	मधुरिमरुचिरं वचः०
		अनेकमेकत्र क्रियते	तद्गेहं नतभित्ति०
३५. अनुमानम्	अनुमानं तदुक्तं यत्-		यत्रैता लहरीचलाचलदृशः०
३६ परिकरः	विशेषणैर्यत् साकूतैरुक्तिः-		महौजसो मानधना०
३७. व्याजोक्तिः	व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्न०		शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमानगिरिजा०
३८. परिसंख्या	किञ्चित् पृष्टमपृष्टं वा०	प्रश्नपूर्वकप्रतीयमानव्यवच्छेद्या०	किमासेव्यं पुंसाम्०
		प्रश्नपूर्वकवाच्यव्यवच्छेद्या	किं भूषणं सुदृढमत्र यशो न रत्नम्०
		अप्रश्नपूर्वकप्रतीयमानव्यवच्छेद्या०	कौटिल्यं कचनिचये०
		अप्रश्नपूर्वकवाच्यव्यवच्छेद्या-	भक्तिर्भवे न विभवे०
३९. कारणमाला	यथोत्तरं चेत् पूर्वस्य०		जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणम्०

अलङ्कारनाम	लक्षणानि	भेदाः	उदाहरणानि
४०. अन्योन्यम्	क्रियया तु परस्परम्०		हंसानां सरोभिः श्रीः सार्यते
४१. उत्तरम्	उत्तरश्रुतिमात्रतः प्रश्नस्योन्नयनम्०	श्रुतिमात्रतः प्रश्नस्योन्नयनम्–	वाणिजक हस्तिदन्ताः कुतः०
		असकृत् प्रश्ने सति असम्भाव्यमुत्तरम्–	का विषमा दैवगतिः–
४२. सूक्ष्मम्	कुतोऽपि लक्षितः सूक्ष्मोऽप्यर्थः		वक्त्रस्यन्दिस्वेदबिन्दुप्रबन्धैः०
४३. सारः	उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत् सारः–		राज्ये सारं वसुधा०
४४. असङ्गतिः	भिन्नदेशतयाऽत्यन्तम्–		यस्यैव व्रणस्तस्यैव वेदना०
४५. समाधिः	समाधिः सुकरं कार्यं कारणान्तरात्०		मानमस्या निराकर्तुम्०
४६. समः	समं योग्यतया योगः–	सद्योगः	धातुः शिल्पातिशय०
		असद्योगः	चित्रं चित्रं बत बत–
४७. विषमः	क्वचिद् यद् अतिवैधर्म्यात्	अतिवैधर्म्यात् सम्बन्धाघटनम्	शिरीषादपि मृद्वङ्गी०
		क्रियाफलाप्राप्तिरनर्थश्च कर्तुः–	सिंहिकासुतसंत्रस्तः०
		कार्यस्य गुणेन कारणस्य गुणो विरुद्ध०	सद्यः करस्पर्शमवाप्य०
		कार्यक्रियया कारणक्रिया विरुद्धा	आनन्दममन्दमिमम्०
४८. अधिकम्	महतोर्यन्महीयो आश्रयाश्रयिणोः	आधाराधिक्यम्	अहो विशालं भूपाल०
		आधेयाधिक्यम्	युगान्तकाल०

अलङ्कारनाम	लक्षणानि	भेदाः	उदाहरणानि
४९. प्रत्यनीकम्	प्रतिपक्षमश क्तेन प्रति-कर्तुम्०		विनिर्जितमनोभव-रूप.०
५० मीलितम्	समेन लक्ष्म णा वस्तु०	स्वाभाविकेन लक्ष्मणा-	अपाङ्गतरले दृशौ-
		आगन्तुकेन लक्ष्मणा	ये कन्दरासु निवसन्ति०
५१ एकावली	स्थाप्यतेऽपो ह्यते वाऽपि-	पूर्वं पूर्वं प्रति परस्य परस्य विशेषणतया स्था०	पुराणि यस्यां सवराङ्ग नानि-
		पूर्वं २ प्रति परस्य २ विशे षणतया निषे०	न तज्जलं यन्न सुचारु पङ्कजम्०
५२. स्मरणम्	यथोनुभवम-र्थस्य दृष्टे०		निम्ननाभिकुहरेषु यदम्भ० कपाले मार्जारः पय इति०
५३ भ्रान्तिमान्	भ्रान्तिमान न्यसंवित्त तुल्य ०		
५४ प्रतीपम्	आक्षेप उप मानस्य प्रतीपमुप मेयता-	उपमानस्याक्षेपः	लावण्यौकसि०
		उपमानस्योपमेयता असाधारणगुणयोगाद् यस्यो पमानत्वं पूर्वं नानुभूतम्-	अयि यदि तावद् सुन्दरि० अहमेव गुरु सुदारुणा नाम्०
५५ सामान्यम्	प्रस्तुतस्य यदन्येन-		मलयजरसविलिप्तैनव -
५६. विशेषः	विना प्रसिद्ध माधारमाधे यस्य०	प्रसिद्धाधारं विना आधेय स्यावस्थानम्	दिवमप्युपयातानाम्०

अलङ्कारनाम	लक्षणानि	भेदा	उदाहरणानि
		एकस्य वस्तुन एकस्वभाव नानेकत्र वर्तनम्-	सा वसति तव हृदये॰
		अन्यत् प्रकुर्वत कार्यमशक्या न्यवस्तुन करणम्-	गृहिणी सचिव सखी॰
५७ तद्गुण	स्वमुत्सृज्य गुणम्॰		विभिन्नवर्णा गरुडाग्रजेन॰
५८ अतद्गुण	तद्रूपस्यान नुहार -	अप्रस्तुतेन प्रस्तुतरूपाननु हार	धवलोऽसि यद्यपि [illegible] दर॰
		प्रस्तुतेनाप्रस्तुतरूपाननुहार॰	गाङ्गमम्बु॰
५९ व्याघात	यद्यथा साधि तम्॰		दृशा दग्धं मनसिजम्॰
६० संसृष्टि	सेष्टा संसृष्टि रेतेषां भेदेन-	शब्दालङ्कारसंसृष्टि	वदनसौरभलोभ-
		अर्थालङ्कारसंसृष्टि	लिम्पतीव तमोऽङ्गानि॰
		उभयालङ्कारसंसृष्टि	स नास्त्यत्र प्राप्ते॰
६१ सङ्कर	अविश्रान्ति-जु षामात्मन्य ङ्गाङ्गित्वम्-	१ अनुग्राह्यानुग्राहकरूप	आत्त सीम नरत्ने॰
(सन्देहसङ्कर)	एकस्य च ग्रहे न्यायदोषा भाव द्-	२ सन्देहरूप	यथा गभीरो यथा रत्न निभ॰ -
(एकपदप्रति पादसङ्कर)	स्फुटमेकत्र विषये शब्दा र्थालङ्कृती-	३ एकपदप्रतिपादरूप	स्पष्टोल्लसत्किरणकेसर-

प्रश्नः २—अलङ्कारदोषाणामुक्तेषु दोषेषु कथमन्तर्भावः ?

उ० २—अस्योत्तरं निम्नप्रकोष्ठे द्रष्टव्यम् ।

अलङ्कारदोष नाम	यस्मिन्नन्त र्भावः	उदाहरणानि	विवरणम्
अनुप्रासे प्रसिद्धयभाव.	प्रसिद्धिविरुद्धता०	चक्री चक्रारपङ्क्ति०	अत्रत्या स्तुतिः पुराणेतिहासादौ न प्रसिद्धा०
अनु० वैफल्यम्	अपुष्टार्थत्वम्	मण तरुणि रमण० अनणुरणन्०	वाच्यस्य विचिन्त्यमान किञ्चिदपि चारुत्व न ।
अनु वृत्ति विरोध.	प्रतिकूलवर्णत्वम्		अत्र शृङ्गारे परुषा वर्णाः प्रतिकूला ।
यमकस्य पाद त्रये यमनम्	अप्रयुक्तत्वम्	भुजङ्गमस्येव मणि.०	
उपमायामुपमानस्य जातिप्रमाणन्यूनता	अनुचितार्थत्वम्	चाण्डालैरिव० (जातिगता) वह्निस्फुलिङ्ग इव० (प्र०गता)	चाण्डालादिभिरुपमानैः प्रस्तुतोऽर्थोऽत्यन्त कद-र्थित ।
उपमायामुपमानस्य जातिप्रमाणाधिकता	क्रमेण	अथ पद्मासनासीन.० पातालमिव ते नाभि ०	
उ०धर्मन्यूनता	हीनपदत्वम्	स मुनिर्लाञ्छितो मौञ्ज्या०	उपमानस्य मौञ्जीस्थानीयस्तडिल्लक्षणो धर्मः केनापि न प्रतिपादितः
उप०धर्माधिकता	अधिकपदत्वम्	स पीतवासाः प्रगृहीतशार्ङ्ग ०	उपमेयशङ्खादेरनिर्देशे शाङ्गिणो ग्रहणमधिकम्—
उपमायामुपमानोपमेययोर्भिन्नलिङ्गत्व भिन्न वचनत्वम्	भग्नप्रक्रमत्वम्	चिन्तारत्नमिव च्युतोऽसि	

अलङ्कारदोष नाम	यस्मिन्नन्तर्भावः	उदाहरणानि	विवरणम्
उपमायां कालभेदः	भग्नप्रक्रमत्वम्	अतिथिं नाम काकुत्स्थात्	अत्र चेतना प्रसादमाप्नोति न त्वाप
उप० पुरुषभेद०	,,	भत्यग्रमज्जनविशेष०	लता विभ्राजते न तु विभ्राजसे
उप० विध्यादि भेदः	,,	गाङ्गेवप्रवहतु ते सदैव कीर्ति०	गङ्गा प्रवहति न तु प्रवहतु
उप० असादृश्यम्	अनुचितार्थत्वम्	ग्रथ्नामि काव्यशशिनम्–	काव्यरूपशशिनाऽर्थानां च रश्मिभिर्न सादृश्यम्
उप० असम्भवः	,,	निपेतुरास्यादिव–	ज्वलन्त्योऽम्बुधारा' सूर्यमण्डलान्निष्पतन्त्यो०
उत्प्रेक्षायां यथा–शब्दस्य संभावना वाचकता–	अवाचकत्वम्	उदयौ दीर्घिकागर्भात्–	
निर्विषय उत्प्रेक्षितार्थसमर्थकार्थान्तरन्यासः	अनुचितार्थत्वम्	दिवाकराद्रक्षति यो गुहासु–	अचेतनस्यासौ दिवाकरात् त्रास एव न सम्भवति
सामान्यविशेषणेन समासोक्तौ उपमानप्रतीतौ तदुपादानम्	अपुष्टार्थत्वम् पुनरुक्तं वा	स्पृशति तिग्मरुचौ ककुभः–	कुतोऽद्रिणा तत् त्राणम् ।
अप्रस्तुतप्रशंसायामुपमेयप्रतीतौ तत्कथनम्	अपुष्टार्थत्वम्	आहूतेषु विहङ्गमेषु मशकः	अचेतनस्य प्रभोरप्रस्तुतविशिष्टसामान्यद्वारेणाभिव्यक्तौ पुनः कथनमयुक्तम् ।

इति दशमोल्लासः ।

अथ सङ्कीर्णाः केचित् प्रश्नाः

प्र० १—'अत्र ऐरावणशक्रौ मदमानमुक्तौ जातौ' इत्यादि सन्दर्भस्य क आशयः ।

उ० १—'यत्प्रेक्ष्य चिररूढाऽपि' इत्यादिपद्ये मदेनैरावणमुखे मानेन च शक्रस्य हृदये निवासप्रीतिः उज्झिता त्यक्तेति वाच्यार्थोऽस्ति । व्यङ्ग्यार्थस्तु 'ऐरावणशक्रौ मदमानमुक्तौ जातौ' इत्यस्ति । अतो व्यङ्ग्यार्थस्य प्रकारान्तरेण कथनात् पर्यायोक्तालङ्कारः । अत्र हि यदेवोच्यते तदेव व्यङ्ग्यमस्ति, परन्तु यथा व्यङ्ग्यं न तथोच्यते । अर्थात् विषयेण वाच्यार्थव्यङ्ग्यार्थयोः कश्चनापि भेदो नास्ति । केवलं प्रकारेणैव भेदः । तत्र दृष्टान्तः—यथा गवि शुक्ले चलति दृष्टे 'गौः शुक्लश्चलति' इति विकल्पः । यदेव दृष्टं तदेव विकल्पयति न तु यथा दृष्टं तथा । अयं भावः—प्रत्यक्षं द्विविधमस्ति सविकल्पकं निर्विकल्पकञ्च–नामजात्यादिप्रकारयुक्तं ज्ञानं सविकल्पकं भवति । त्रिविधविषयताशून्यं तुरीयविषयताशालि ज्ञानमर्थात् नामजात्यादिप्रकाररहितं ज्ञानं निर्विकल्पकं भवति । निर्विकल्पकसविकल्पकयोर्नास्ति विषयस्य भेदः केवलं प्रकारस्यैव । यतो हि भिन्नत्वेनासंसृष्टत्वेन वा दृष्टं भिन्नत्वेन (बौद्धमते) संसृष्टत्वेन (वैयाकरणादिमते) विशिष्टीक्रियते । अर्थात् निर्विकल्पके गोत्वप्रकारकं गोज्ञानं नास्ति प्रत्युत गोज्ञानमात्रम् । सविकल्पके तु गोत्वप्रकारकं गोज्ञानमस्ति । इत्थञ्च दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्विषयभेदो नास्ति अपि तु प्रकारस्यैव ।

प्र० २—स्वाधीनपतिकेत्यादि-स्फुटीक्रियताम् ।

उ० २—ननु 'गुणालङ्कारयुक्तमव्यङ्ग्यं चित्रम्' इति प्रथमोल्लासे गदितं चित्रं ध्यतेऽलङ्कारस्थले व्यङ्ग्यस्यानुभवसिद्धतया तत्प्राधान्ये ध्वनित्वमप्राधान्ये गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वरूपचित्रस्य दुरुपपादत्वादिति चेन्न, स्वाधीनपतिकेत्यादौ व्यङ्ग्यसम्बन्धात्त चारुताप्रतीतिरपि तु इत्यादिवाच्योपमावैचित्र्यात् । न च 'ते चालङ्कारनिर्णये निर्णेष्यन्ते' यान्यलङ्कारोदाहरणतयोपन्यस्तानि तानि चित्रकाव्यस्योदाहरणानीति षष्ठ उक्तमत्र तु 'स्वप्नेऽपि' इत्यादीनि यानि उपमोदाहरणतया कथितानि तानि चित्रकाव्यस्य नोदाहरणानि राजविषयकभावादिरूपस्य व्यङ्ग्यस्य सत्त्वेनाव्यङ्ग्य-

स्वलक्षणचित्रकाव्यासम्भवादिति पूर्वापरविरुद्धाभिधानमिति वाच्यम्, रसभावादि रूपव्यङ्ग्यस्य सर्वत्राव्यभिचारित्वात्तत्रौदासीन्यमवलम्ब्य काव्यालङ्काराणामुदाहरणात्। तद्रहितानां विरसतापादनाच्च। ननु 'स्वप्नेऽपि' इत्यादौ उपमालङ्कारो दाहृते पद्ये 'प्रभावप्रभव' इत्यनुप्रासोऽप्यस्ति तस्मात् संसृष्टिः सङ्करो वा वक्तुमुचितो न तूपमेति चेन्न उपमानुप्रासयोः संसृष्टौ सङ्करे चोपमाया अपि सत्त्वात्।

प्र० ३—के रसवदाद्यलङ्काराः ?

उ० ३—रसवदाद्यलङ्काराः सप्त सन्ति। गुणीभूतो रसो रसवत्, गुणीभूतो भावः प्रेयः, गुणीभूतौ रसाभासभावाभासौ ऊर्जस्वि, गुणीभूता भावशान्तिः समाहितं, एवं गुणीभूता भावोदय-भावसन्धि-भावशबलताश्च तन्नामान एवालङ्काराः ज्ञेयाः।

प्र० ४—अथ केषाञ्चिदलङ्काराणां भेदाः।

उ० ४—१-उपमारूपकयोः, उपमायामिवादिप्रयोगात् सादृश्यं वाच्यं भवति, रूपके तु तदभावाद् व्यङ्ग्यम्।

२—तुल्ययोगितादीपकयोः, तुल्ययोगितायां प्रकृतानामप्रकृतानां वैकधर्मेण सम्बन्धः, दीपके तु प्रकृताप्रकृतयोरेकधर्मेण सम्बन्धः।

३—लाटानुप्रासपुनरुक्तवदाभासयोः, लाटानुप्रासे समानाकारौ तात्पर्येण भिन्नौ शब्दौ भवतः पुनरुक्तवदाभासे भिन्नाकारौ।

४—उत्प्रेक्षाभ्रान्तिमतोः, उत्प्रेक्षायां सम्भावनाकर्तुर्विपयस्य ज्ञानं भवति भ्रान्तिमति विषयस्य ज्ञानं न भवति।

५—सन्देहभ्रान्तिमतोः, सन्देहे उभयकोटिकं ज्ञानं भ्रान्तिमत्येककोटिकम्।

६—सन्देहोत्प्रेक्षयोः, सन्देहे द्वयोरपि कोट्योः समत्वेन प्रतीतिरुत्प्रेक्षायामेककोटेः प्रधानत्वेन।

७—उपमाऽनन्वययोः, उपमायां द्वयोः साम्योक्तिरनन्वये एकस्यैव।

८—वक्रोक्तिद्वितीयापह्नुत्योः, वक्रोक्तौ परोक्तेरन्यथाकारः, द्वितीयापह्नुतौ स्वोक्तेरेव।

९—द्वितीयापह्नुतिव्याजोक्त्योः, द्वितीयापह्नुतौ गोपनकृतो गोपनीयार्थः प्रथममुच्यते व्याजोक्तौ तु नोच्यते।

१०—निदर्शनादृष्टान्तयो , निदर्शनाया द्वयोर्वाक्यार्थयो सापेक्षत्वम्, दृष्टान्ते निरपेक्षत्वम् ।

११—अप्रस्तुतप्रशंसासमासोक्त्यो , अप्रस्तुतप्रशंसाया प्रस्तुतस्य गम्यत्व समासोक्तौ त्वप्रस्तुतस्य ।

१२—अर्थापत्तिनिदर्शनयो , अर्थापत्तौ 'दण्डापूप'न्यायादर्थान्तरप्रतीतिमात्रम् निदर्शनाया वाक्यार्थस्य सादृश्ये पर्यवसानम् ।

१३—अप्रस्तुतप्रशंसादृष्टान्तयो , अप्रस्तुतप्रशंसाया क्वचिदप्रसिद्धस्यापि वस्तुन प्रतिबिम्बत्वेनोपादान दृष्टान्ते तु प्रसिद्धस्यैव ।

१४—उत्प्रेक्षानुमानयो , उत्प्रेक्षाया विषयिण (उपमानस्य) अनिश्चित तया प्रतीतिरनुमाने तु निश्चिततया ।

१५—अनुमानोत्तरयो , एकपक्षगतत्वेन साध्यसाधनयोर्निर्देशोऽनुमाने भवति । उत्तरे तु न भवति ।

प्र० ५—के व्यभिचारिण ? व्यभिचारिस्थायिनो को भेद ?

उ० ५—निर्वेद , ग्लानि , शङ्का, असूया, मद , श्रम , आलस्यम्, दैन्यम्, चिन्ता, मोह , स्मृति , धृति , व्रीडा, चपलता, हर्ष , आवेग , जडता, गर्व , विषाद , औत्सुक्यम्, निद्रा, अपस्मार , सुप्तम्, प्रबोध , अमर्ष , अवहित्थम्, उग्रता, मति , व्याधि , उन्माद , मरणम्, त्रास , वितर्क , एते त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिभावा कथ्यन्ते । स्रजि सूत्रमिव स्थायिनो नियतावस्थानम् । व्यभिचारी फेनबुद्बुदवदनियतावस्थितिको भवति ।

प्र० ६—सोदाहरणं लक्षणाया षड् भेदा लेख्या ।

उ० ६—लक्षणा पूर्वं द्विविधा । शुद्धा गौणी च । शुद्धा चतुर्विधा गौणी च द्विविधा ।

१ सारोपा उपादानलक्षणा, यथा—कुन्ता पुरुषा प्रविशन्ति ।

२ साध्यवसाना उपा० ल०, यथा—कुन्ता प्रविशन्ति ।

३ सारोपा लक्षणलक्षणा, यथा—आयुर्घृतम् ।

४ साध्यवसाना लक्षणलक्षणा, यथा—आयुरेवेदम् ।

५ सारोपा गौणी, यथा गौर्वाहीक ।

६ साध्यवसाना गौणी, यथा—गौरयम् ।

प्र० ७—गौणीशुद्धयोर्भेदं प्रतिपाद्य लक्षणायाः षड्विधत्वं विमर्शपुरःसरमिति प्रतिपादयत ।

उ० ७—यत्र सादृश्यसम्बन्धो भवेत्तत्र गौणी, यत्र तु सादृश्याद् भिन्नः कश्चित् तादर्थ्यकार्यकारणभावावयवावयविभावादिः सम्बन्धो भवति तत्र शुद्धा ।

उपादानलक्षणा—अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वन्युपयोगिनी ।

लक्षणलक्षणा—अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वन्युपयोगिनी ।

गौणी सारोपा—रूपकालङ्कारोपयोगिनी ।

गौणी साध्यवसाना—प्रथमातिशयोक्तिजीविका ।

शुद्धसारोपा—चतुर्थातिशयोक्तिजीविका ।

शुद्धसाध्यवसाना—सहकारिनिरासेन कार्यकारित्वरूपमाश्रित्यातिशयसम्बद्धैवदर्शिका ।

प्र० ८—हेत्वलङ्कारः पृथगलङ्कारोऽस्ति न वा ?

उ० ८—ननु 'हेतुमता सह हेतोरभेदेनाभिधानं हेतुः' इति प्राचीनैर्हेत्वलङ्कारः पृथग् लक्षितस्तस्मादत्रापि हेत्वलङ्कारो लक्षणीय इति चेन्न, आयुर्घृतमित्यादिरूपोऽयं नालङ्कारतामर्हति चमत्काराभावात् । न च 'अविरलकमलविकासः' इत्यत्र हेत्वलङ्कारमुक्तं काव्यं प्राचीनैस्तत्र हेत्वलङ्कारानङ्गीकारे कथं नाम सङ्गच्छतामिति वाच्यम्, तत्र काव्यत्वं केवलानुमानमहिम्नैव काव्यलिङ्गमेव च हेत्वलङ्कारो न तु भिन्नः ।

प्र० ९—व्यतिरेकालङ्कारभेदाः ।

उ० ९—व्यतिरेकालङ्कारस्य चतुर्विंशतिर्भेदा सन्ति । उपमेयगतोत्कर्षकारणमुक्तमुपमानगतापकर्षकारणं द्वयोरपि ।

(१) उपमेयगतोत्कर्षकारणस्योक्तिः ।

(२) उपमानगतापकर्षकारणस्योक्तिः ।

(३) उभयोरुक्तिः ।

(४) एतेऽत्र भेदे उपमानोपमेयभावस्य शब्देन कथिते । एवमेते तथा आर्थे चत्वार एव कल्पिते । इत्यमन्तरे द्वादश श्लेषे च द्वादश । मिलित्वा चतुर्विंशतिः ।

प्र० १०—अप्रस्तुते प्रस्तुतारोप इति व्याख्यायताम् ।

उ० १०—यत्र वस्तुमात्रेण वाच्यालङ्काररहितेन अलङ्कारा व्यज्यन्ते तदा तासामलङ्कृतीनां ध्रुवं निश्चयेन ध्वन्यङ्गता ध्वनिव्यवहारप्रयोजकता। काव्यवृत्ते काव्यव्यवहारस्य तदाश्रयात् अलङ्कारसापेक्षत्वात्। वस्तुमात्रं यत्रालङ्कारो व्यज्यते न तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमिति तत्त्वम्।

११ रूपकादिरलङ्कार—केचिदालङ्कारिका रूपकादीनामेवालङ्कारत्वमन्वमन्। यतो हि विभावादिरूपार्थोपस्कारकतया मुख्यस्य रस्यादेः कर्त्तृत्वे रूपकादिरेव वस्तुतोऽलङ्कारः। सुन्दरं सदपि वनितानननमलङ्काररहितं न शोभते। केचित्तु—अनुप्रासादीनामेवालङ्कारत्वं वाञ्छन्ति। यतो हि रूपकाद्यलङ्कारस्य काव्यप्रतीत्यनन्तरं प्रतीतिर्भवति। यत्र सुपां तिङां चानुप्रासादिरूपेणोपपत्तिर्भवति तत्रैवालङ्कारता। शब्दालङ्काराणां स्वतश्चमत्कारितार्थालङ्काराणान्तु विभावाद्युपस्कर्तृमुखमेव। कविकर्म च शब्दविषयकमेव न त्वर्थविषयकं तेनानुप्रासादीनामेवालङ्कारता रूपकादिषु त्वलङ्कारव्यवहारो गौणः। श्रीमम्मटमते तु द्वयोरप्यलङ्कारता। यतो हि शब्दे स्वरूपेणालङ्कारता नास्ति निरर्थकेऽपि तदापत्तेः। नापि केवलमर्थेऽर्थबोधकं च शब्देऽलङ्कारतेति द्वयोरपि शब्दार्थयोरास्वादोपस्कारकतयोभयत्राप्यलङ्कारता।

१२ गुणः कृतात्मसंस्कारः—गुणोऽप्रधानं कृतः आत्मनः स्वस्य संस्कारः अन्येन परिपुष्टिर्येन स तादृशः प्रधानं प्राप्नोति। आत्मसंस्कारेण च प्रधानस्य महति उपकारे वर्त्तते। अयं भावः—गौणरसोऽन्येन परिपुष्टः सन् प्रधानं रसमुपकरोति। अनेन रसविरोधः परिहृतो भवति।

कर्णादिशब्दानां सार्थकानर्थकव्यवस्था—यद्यपि श्रवणसादीनि कर्णाभरणान्येव भवन्ति तथापि कर्णादिशब्दाः कर्णादिस्थितिविज्ञानाय। यथा—'अस्याः कर्णावतंसेन' 'अपूर्वमधुरामोद' अनयोः पदयोः कर्णश्रवणशिरः शब्दाः सामीप्यज्ञानार्थाः। 'विदीर्णाभिमुखारातिः' इत्यत्र रूढज्ञानाय धनुःशब्दः। तदविवक्षया तु 'ज्याबन्धनिष्पन्दभुजेन' इत्यादौ केवलस्य ज्याशब्दस्य प्रयोगः। 'मुक्ताहार' इत्यादौ अन्यरत्नामिश्रितत्वबोधनाय मुक्ताशब्दः। 'सौन्दर्यसंपद्' इत्यादावुत्कृष्टपुष्पविषये पुष्पशब्दः। उपपदरहितं मालापदं पुष्पस्रजमेवाभिधत्ते। 'नगादमधुरा वाचम्' इत्यादौ क्रियाविशेषणत्वेऽपि विवक्षितार्थसिद्धिर्भवति। अत 'गतार्थस्यापि विशेष्यस्य विशेषणदानार्थं क्वचित् प्रयोगः' इति न युक्तं, युक्तत्वे वा 'चरणत्रपरित्राण' त्याद्युदाहार्यम्। अर्थात् 'जगाद मधुरां वाचमि'त्यत्र जगादेति

क्रिययैव वाचो लाभे विशेषणदानार्थं वाचमित्यस्य ग्रहणमिति केचित् तन्न, क्रिया विशेषणत्वेनैव निर्वाहे वाचमित्यस्य विशेषणदानार्थं ग्रहणं न युक्तम् ।

१३ सर्वत्र एवंविधविषये—ननु आधारं विना आधेयस्यावस्थानम्, एकस्यानेकत्रावस्थानम्, एकेन यत्नेन कार्यद्वयकरणं वस्तुतो नोपपन्नमिति चेन्न, एवं विधविषयेऽतिशयोक्तिरेव जीवनम् । अतिशयेन लोकसीमातिक्रमेण उक्तिं वचनम् । उक्तञ्च—'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरि'त्यादि । अत्रापि वक्रोक्तिरतिशयोक्ति र्बोध्या । सर्वत्र एषा अतिशयोक्तिर्लोकसीमातिक्रमेणोक्तिरेवाऽलङ्कारकारणमस्ति । एतदर्थं कविना यत्न कार्यं । एनामन्तरेण प्रायेण कोऽप्यलङ्कारो नास्ति ।

१४ एषा च विरोधबाधिनी—असङ्गतिर्विरोधाभासबाधिकाऽस्ति । असङ्गतौ एकदेशकयोर्भिन्नदेशकत्वरूपानुपपत्तिरस्ति । अतो विरोधाभासे भिन्नदेशत्वयोरेकदेशकत्वरूपानुपपत्ति कथनं विनापि सिद्ध्यति । 'प्रकल्प्य चापवादविषयं तत उत्सर्गोऽभिनिविशते' इति न्यायात् । अपवादविषयं परित्यज्य सामान्यशास्त्रं प्रवर्तते । असङ्गतिरपवादोऽस्ति विरोधाभासः सामान्यमस्ति । तस्मादसङ्गति विषयं परित्यज्य विरोधाभासः प्रवर्तते ।

१५ ननु समानमुच्चरितम्—ननु कालभेदेऽप्युपमायां भग्नप्रक्रमता न भवितुमर्हति । उच्चारितं गम्यं वा कालाद्यनुपहितधर्मान्तरमादाय कालभेदाभावात् । यत्रोच्चारितेनैव सामान्यधर्मेणोपमा प्रतीयते तत्रापि 'युधिष्ठिर इवायं सत्यं वदति' इत्यादौ युधिष्ठिर इव सत्यवाद्ययं सत्यं वदतीति बोधयिष्यामः । सत्यवादी सत्यं वदति' इत्यादौ युधिष्ठिर इव सत्यवाद्ययं सत्यं वदतीति बोधयिष्यामः । सत्यवादी सत्यं वदतीत्यत्र पुनरुक्तिस्तु न शङ्कनीया । युधिष्ठिर इव सत्यवदनेन सत्यवाद्ययमिति वर्धावगमादिति चेन्न, साधुत्वार्थं नियमितेष्वेतत्समर्थनं न तु सर्वथा निर्दुष्ट' प्रकृतवस्तुप्रतीतिविनाशात् ।

१६ सालङ्कारैर्ध्वनेस्तैश्च—

सालङ्कारैरित्यत्रैकशेषः । सालङ्काराश्च सालङ्काराश्च सालङ्कारास्तैः सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' इत्येकशेषः । पूर्वमलङ्कारशब्दो भावघञन्तोऽलङ्करणमलङ्कारः शोभा तया सह वर्तन्ते इति सालङ्काराः । अपरत्रालङ्कारशब्दः करणघञन्तः । अलङ्क्रियतेऽनेनेत्यलङ्कारः उपमादिस्तेन सहिताः सालङ्काराः । ततश्चायमर्थः— अलङ्काराः मताः प्राप्तैः समासोक्तिरसवदादिपदाभिधेयैः वाच्यालङ्कारयुक्तैश्च गुणीभू

तव्यङ्ग्यप्रभेदैः शुद्धैः सह एकपञ्चाशद्भेदस्य ध्वनेरेकरूपया संसृष्ट्या त्रिभिः सङ्करैश्च योगो भवतीति ।

प्र० १७—आय शूलिक इत्यत्र लुप्तोपमाऽस्ति न वा ?

उ० १७—ननु अय शूलमिव क्रूराचारस्तेनान्विच्छति व्यवहरतीति आय –शूलिक । अत्र हि क्रूराचार उपमेय, तीक्ष्णत्वादिरूप साधारणो धर्म, साधारणधर्मवाचक इवादिश्च नोपात्त केवलमुपमानभूतमय शूलमेवोपात्तम् । अतस्त्रिलोपेयमुपमेति चेन्न, क्रूराचारस्य निगीर्णस्वरूपस्याय शूलतादात्म्येनारोपादत्रातिशयोक्ति । अन्यथा निगीर्याध्यवसानमूलातिशयोक्तेर्निर्विषयत्वापत्ति ।

प्र० १८—'निरूढा लक्षणा काश्चित्' व्याख्यायताम् ।

उ० १८—अभिधानवत् शक्तिवत् सामर्थ्यात् प्रसिद्धे शब्दस्वभावाद्वा निरूढा अनादिप्रसिद्धा काश्चिल्लक्षणा भवन्ति । यथा 'कर्मणि कुशल' इत्यादौ । साम्प्रतम् अधुना काश्चित् प्रयोजनवशात् क्रियन्ते । यथा 'गङ्गायां घोष' इत्यादौ । अत्र शीतपावनत्वादिप्रतीत्यर्थं गङ्गादिपदस्य गङ्गातटादौ लक्षणा स्वीक्रियते । काश्चित् लक्षणा रूढिप्रयोजनान्यतराभावात् अशक्तित प्रत्यायनसामर्थ्याभावात् नैव क्रियन्ते । यथा 'रूपो घट' इत्यादौ । पददोषेषु नेयार्थदोष उक्तस्तत्र नेयत्व प्रतिपादयितु 'निरूढा लक्षणा' इत्याद्युक्तम् । निषिद्धलक्षणाया विषयो नेय । नेयोऽर्थो यस्य तत् पद नेयार्थम् ।

१९. गुणानाञ्च परार्थत्वात्—गुणाना विशेषणाना परार्थत्वात् प्रधानान्वयापेक्षित्वात् असम्बन्ध परस्परमनन्वय स्यात् समत्वात् । गुणप्रधानभावेनैव पदार्थानामन्वयो न तु गुणाना गुणै सह, नापि प्रधानाना प्रधानै सहान्वय इति तत्त्वम् । इत्युक्तनयेन 'यासा त्रिदशेभ' इत्यादिपद्ये यच्छब्दनिर्दिष्टस्यानामधाना गुणत्वात् । परस्परमन्वयाभावेन यैरित्यत्र विशेष्यस्य प्रतीतिर्नास्ति । यैरिति यदर्थस्यविशेष्यतया क्षपाचारिसम्बन्धो विवक्षित । स च न घटते क्षपाचारिणामिति भिन्नविभक्त्यन्तक्षपाचारिशब्दस्य ग्रहणात् । तेनाभवन्मतयोगत्व स्पष्टमेव । क्षपाचारिभिरिति पाठे त्वन्वय सुसिद्धो भवति ।

इति पराशरवशावतंसपण्डितश्रीमदमोलकरामात्मजपण्डितश्रीब्रह्मानन्दतनुजनुपा सुरजीगर्भसमुद्भवश्रीपण्डितदेवदत्तशास्त्रिणा निर्मित सप्तमोल्लासादारभ्य दशमोल्लासपर्यन्त काव्यप्रकाशरहस्य समाप्तम् ।

व्याख्याकार, डॉ० भोलाशंकर व्यास ।

इसकी व्याख्या में शास्त्रार्थस्थलों को सुबोध बनाने की अथक चेष्टा की गई है। कुवलयानन्दकार की परिभाषाओं, भेदों तथा उदाहरणों की जहाँ जहाँ पण्डितराजने रसगंगाधर में आलोचना की है, उन-उन स्थलों पर पण्डितराजके आक्षेपों को उपन्यस्त कर ग्रन्थ को अधिक उपयोगी बनाया गया है। ग्रन्थ के आरम्भ में एक विस्तृत भूमिका है जिसमें प्राय सभी प्राचीन अलङ्कारशास्त्रियों के मतों का समन्वय एवं समीक्षा आदि है। यह ग्रन्थ अलङ्कारों के अध्ययन के लिए एक महत्त्वपूर्ण सामग्री उपस्थित करता है। अलङ्कार शास्त्र के जिज्ञासुओं के लिए यह ग्रन्थ अत्यधिक उपयोगी सिद्ध होगा। ६॥)

हिन्दी काव्यादर्शः

'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेत ।

व्याख्याकार-आचार्य रामचन्द्र मिश्र ।

सरस शैली में अलङ्कार शास्त्र का तात्त्विक विवेचन प्रस्तुत ग्रंथ का विषय है। व्याख्याकार ने वर्तमान शिक्षास्तर के सर्वथा अनुकूल सारगर्भित सरल विस्तृत हिन्दी भाष्य करके इसे सुबोध बना दिया है। इस अभिनव संस्करण की प्रस्तावना में लगभग ७० अलङ्कारशास्त्रियों का परिचय, रचनाएं तथा उनकी विशेषताओं का वर्णन किया गया है। साथ ही अलङ्कारशास्त्र, अलङ्कारशब्दार्थ एवं अलङ्कारशास्त्र का क्रमविकास नामक प्रसंग भी प्रस्तावना में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। छात्रों, अध्यापकों एवं साहित्यानुरागियों के लिये यही उपयोगी संस्करण है। ६॥)

प्राप्तिस्थानम्—चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१